आनन्द-तरंग

लेखक :

नन्दलाल शर्मा

वक्तव्य

शब्दमय यज्ञ था संत का जीवन। निरन्तर ही शब्दों की उठती हुई पावन धूमाग्नि से उठती रही प्राणी के कल्याण की कामना।

शब्द कभी प्रवचन रूप में मुखारविन्द से प्रसूत होते, कभी लेखनी में बंधकर लेख का रूप धारण करते, कभी वाणी के रूप में निर्झरित होते।

आनन्द-तरंग सद्गुरु के पांच भावमय, कल्याणमय लेखों का संग्रह है। इन पाँच लेखों को पढ़ते हुए प्राणी भव में रहते हुए अभाव से ऊपर उठ, भाव के निर्मल आकाश में यथार्थ का दर्शन करता है।

नितान्त मौलिकता, स्पष्टवादिता एवम् रुढ़ि से हट कर चिर-पुरातन भाव की नित्य नवीनता का बोध कराते हैं यह लेख।

सन् १९६५ में आनन्द तरंग की पाँच सौ प्रतियाँ प्रकाशित हुई थी जो शीघ्र ही पाठकों की धरोहर हो गयी। पुनः १९६९ में पाँच सौ प्रतियाँ प्रकाशित हुई जो भक्तों के फैलते जन समुदाय ने इसे अपने जीवन में भाव विकास का मार्ग माना। १९९० में पुस्तक का तृतीय संस्करण प्रकाशित हुआ। भक्तों की चाह अब भी मांग रही है आनन्द तरंग। इसलिए भक्तों के आग्रह पर आनन्द तरंग का चतुर्थ संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है।

★★★★★

अनुक्रमणिका

	विषय :		पृष्ठ
१.	मेरी आंखों में देख	....	५
२.	प्राकृतिक भजन	....	१६
३.	प्रकृति और स्वभाव	....	२०
४.	अनामी का नाम	....	३४
५.	भव में अभाव	....	४२

दो शब्द

जीवन के मधुर क्षणों में अलौकिक भावनाएं प्रकाश में आती हैं, जो जगत तथा जन के लिए आश्चर्य का कारण बन, पथ प्रदर्शक बन जाती हैं। भाव अनेक, पथ अनेक, साधन अनेक, साधक अनेक किन्तु यह सब होता है अनेकों में एक के लिए। एक की कृपा अनेक। कृपा यों सब पर, यों कुछ पर, ये जो कुछ लिखते हैं, बोलते हैं, अनुभव करते हैं, वह सबकी निधि है, विचारों की। यह निधि विधि विधान बन जाती है। निधि न विधि के लिए थी और न विधान के लिये। किसी एक व्यक्ति को प्रधान मान, धर्म कर्म निश्चित हुए और विचारों का संघर्ष प्रारम्भ हुआ। विचारों की निधि उपेक्षित। संघर्ष ने जगत को क्षत, विक्षत बना डाला। विश्व नियामक हँसता है इन अबोध बालकों पर जो धर्म, कर्म का मर्म न समझते हुए एक दूसरे का हनन करने में लगें हैं 'सिद्धान्त और संस्कृति' के नाम पर।

प्रस्तुत पुस्तिका में 'सर्व शान्त भाव' व्यक्त किये गये हैं, न पंथ चलाने के लिए और न अनुभव का पांडित्य प्रदर्शन के लिए।

शीर्षक पाँच, ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच, कर्मेन्द्रियाँ पाँच, भूत पाँच। विज्ञ पंच पाँचों का रहस्य समझते हुए रस ले सकें तो लिखना सार्थक अन्यथा व्यर्थ प्रयास। पुस्तकें लिखी गयीं और लिखी जायेंगी यदि समस्या के समाधान में ये विचार कुछ भी सहायक सिद्ध हो सकें तो प्रयास भविष्य में भी होता रहेगा ऐसी आशा की जाती है।

ज्ञान विज्ञान के समन्वय की आवश्यकता है। संसार में विचरण करता हुआ व्यक्ति यदि संसार की उपेक्षा करे, यह न्याय संगत नहीं किन्तु संसार ही सब कुछ है और परलोक कुछ भी नहीं क्योंकि वह प्रत्यक्ष नहीं,

ऐसा मानना और कहना उचित नहीं जान पड़ता। आज प्रत्यक्ष के चक्कर में पड़ी हुई दुनिया उस महाशक्ति को विज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष कर सकेगी, यह कल्पना मात्र है।

ज्ञान विज्ञान में कौन महान ? विज्ञान भी ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होता है। अवश्य ही यह भौतिक ज्ञान है। आध्यात्मिक ज्ञान तो प्राण है प्राणी के, जिसके अभाव में चमत्कार भी सारहीन प्रतीत होते हैं।

उपदेश, देश न दिखा पाये,
ग्रंथ, ग्रंथी न खोल पाये।

सदगुरु! कर कृपा कि ये निर्बल विचार वाले, बल प्राप्त कर सकें, तू बलदेव है।

★★★★★

मेरी आँखों में देख। मेरी आँखों से देख। मुझे देख।

आँखें देखती हैं प्रिय को, अप्रिय को, किन्तु भाग्यवश यदि आनन्द घन की प्रतिमा किन्ही आंखों में देखने का सुयोग हुआ तो जीवन आनन्द-सागर में गोता ही लगाने लगे।

अदृश्य प्रभु की मनोहर मूर्ति सन्त के शान्त अवलोकन में प्रतिभासित होती है। जहां विषयी मनुष्य की आँखें उत्तेजक विकार पैदा करती हैं, वहीं करुणा, प्रेम, उदारता, का सुन्दर सम्मिश्रण प्रभु प्रेमी के दिव्य चक्षुओं का आगार है। आँखों का जादू तो सुना, किन्तु सौभाग्यवश देखा आनन्द के दुलारे की प्यार भरी चितवन में, नयनों में, अपने प्रीतम को। प्रेमी भक्तों के लिए उसने (आनन्द के दुलारे ने) आँखें बिछा रखी हैं, तभी तो कहता है अपने प्यार को इन आँखों में देख। ये आँखें मेरी नहीं, तेरे प्रभु की हैं। पवित्र मंदिर हैं ये जहां प्रिय भक्तों के अतिरिक्त प्रवेश ही नहीं पाते।

एक बार प्रभु अनुकम्पा से यदि ऐसी आँखों का दर्शन हो जाये तो माया-काया का खेल ही बदल जाये। प्रेमपगी इन बावरी आँखों ने अनेक को ही अमर धाम दिखलाया है। दिल भर कर देख इन आँखों में मधुर भावों को कि जन्म-जन्मान्तर की प्यास बुझ जाये, फिर – "न आना न जाना, मगन रहना" की अवस्था बन जाये।

विलासी आँखें देखीं, प्रेम तृत्प आँखें न देख पाया इसीलिए न जन्म-मृत्यु का चक्र लगा रहता है अन्यथा ये आँखें तो जन्मों की साध को तृप्त कर प्रभु प्रसाद बना देती हैं इस शरीर को। देव-दर्शन, भक्त-दर्शन, प्रभु-दर्शन इन्हीं आँखों में हैं। अभय होकर दर्शन कर, जीवन की साध मिटेगी, प्रेम की चाट बढ़ेगी, हृदय की कली खिलेगी, आनन्द के दर्शन होंगे।

इन आँखों पर त्रिलोक का सुख भी न्यौछावर किया जाये तो कम है। प्रेम, श्रद्धा की दृष्टि से देख, दृष्टि सार्थक हो।

विलासी, इसी जगत का वासी, प्रेमाभिलाषी की कथा निराली जहां व्याख्या नहीं, व्याख्यान नहीं, आख्यान नहीं, केवल प्रेम ही सर्वस्व है। संसार का सार इन आँखों में हैं। दिव्यता, भव्यता, अहेतुक कृपा की झलक, ह्रदय की पुलक, सन्तोष की मस्ती, प्रेम की हस्ती इन आँखों में। निराकार साकार का रूप धारण करता है इन आँखों में तभी तो कहता है "मेरी आँखों में देख"।

दयालु का ह्रदय दया से द्रवीभूत हो जाता है, उसकी ह्रषिकेश भावना आकुल-व्याकुल प्राणियों को देख, प्रेम विभोर हो नृत्य करती है भावुक ह्रदयों में। जिन्होंने प्रेम के अवतार को देखा वे अपनी क्षुद्रता को भूल आनन्द सागर में नमक की पुतली की तरह घुल-मिल गये। ये आँखें ऐसी ही होती हैं, जिनकी प्रशंसा नहीं की जाती, देखते ही बनता है।

आँखों का इतिहास सदा नवीन सदा प्राचीन। आँखें न क्षुद्र, न महान, भाव ही प्रधान। भाव का सौरभमय हवन अंग-अंग को परिप्लुत कर दिव्य भाव जागृत करता है। मीरा पद केवल गेय ही नहीं, प्रेय-श्रेय भी हो जाते हैं जब लोकलाज तज बरबस गाती हैं "अँखियाँ हरि दर्शन की प्यासी"। प्यास बुझी कब? बुझी जब दर्शन हुए प्रिय के। दासी मीरा की अब उदासी सदा के लिए बिदा हुई। पास ही प्रिय था, किन्तु दर्शन दुर्लभ हो रहे थे प्रिय के।

प्रभु के प्यारे आज भी निराकार को साकार रूप में उपस्थित करते हैं भावों से। भोली दुनिया, भूली दुनिया कब इन आँखों में प्रभु के दर्शन कर

जीवन सफल बनाती है। अभी शंका और सन्देह भाई-बहन के रूप में उन्हें (प्राणियों को) भ्रमित करते आ रहे हैं। उन्हें (प्राणियों को) अवकाश कहाँ कि वे इन विकारों से मुक्त हों, प्रभु को सन्त की आँखों में देखें।

आँखें यन्त्रवत कार्य करती हैं, ये तो हृदय के प्रेम उदगार हैं, जो इन्हें दिव्य बना देते हैं। जैसे विचार वैसे विकार। आकार प्रकार का साकार रूप कार्य में परिणत होता आ रहा है। आँखों की लाली ने गाली का रूप धारण किया तो प्रतिवेशी व्याकुल हुआ। प्रतिक्षण भावों का प्रवाह रंगमंच बना हुआ है, जहाँ अभिनय कला का प्रदर्शन करता है।

अभिनय का प्रभाव क्षणिक भी, अमिट भी। यदि अभिनय को सत्य मान लिया जाय तो मनोरंजन के स्थान पर क्लेश ही अवशेष रहता है। कैसा अद्‌भूत विनोद है प्रकृति का। ज्ञानी अज्ञानी सभी तो प्रवृत्ति की आवृत्ति करते आ रहे हैं, किन्तु सन्त तो शान्त, मूक हो प्रियतम के प्रेम में विभोर हो भूल बैठता है अपने अहं को, सोऽहं ही उसका मूलमन्त्र बन जाता है। आँखों में प्रिय की मूर्ति, हृदय में आनन्द कन्द का वास, जगत के लिये सुवास बन जाता है। बरबस कह उठता है - "मेरी आँखों में देख"।

तृप्त कर चिरसंचित अभिलाषा। रूप अवलोकन तेरी तृषा शान्त न कर सकेगा। वियोगी आज योगी बना, भोगी आज जनमन उपयोगी बना, जब इन प्रेमी-पीयूष नयनों में नारायण को देख पाया। कामी ने काम खोजा निराश हुआ, क्रोधी क्षुधा न मिटा सका, लोभी का लोभ मूर्छित हो गया, मोही ने निर्मोही समझा, मद का उपासक मद में मत्त हो लड़खड़ाता हुआ आगे बढ़ा, ईर्ष्यालु ईर्ष्या करता है इन आँखों से।

ये आँखें मतवाली हैं, जिसने सब मतों का सार ग्रहण कर मस्ती का आनन्द लिया। सर्व गुणग्राही, सर्व पाप हारी, इन आँखों की छवि तीन लोक

से न्यारी, जहाँ प्यार और प्यारी बलिहारी जाते हैं। वर्णनातीत आँखें आज आँखों में बस गयीं। त्रिलोक की सम्पदा प्राप्त, जब प्रेम अभिव्याप्त आँखें देखीं।

आँखों में क्या है, इसे आँख वाला ही जानता है। आँखें आँखें देती हैं, जिन्हें पा मनुष्य जीवन सफल होता है। आँखें थीं, किन्तु इन आँखों के दर्शन नहीं हुए थे। आँखें रहती हुईं भी तामसिक भावों का निवास बनी हुई थीं।

तम, सत्व विकारों का प्रभाव। जहां भावोदय हुआ तम "त्वम्" हुआ। "तू ही है जीवनाधार" की भावना ने अनेक तामसिक जनों का जीवन बदला। "तामसतनु" सात्विक धाम बना जब राम मिला। राम का आगार और आकार सन्त दृष्टि में गोचर हुआ।

सृष्टि का सर्वोत्तम उपहार सन्त दृष्टि। दृष्टि में सृष्टि, जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। जैसी प्रेम दृष्टि वैसी व्यष्टि, समष्टि की तुष्टि। एक "हाँ" "ना" का तमाशा। "हाँ", 'ना' होना के रूप में आया। नया रंग, नयी उमंग, शिव पार्वती, विश्वास श्रद्धा का चमत्कार प्रकाश में आया।

जहाँ विकास वहाँ प्रकाश। जहाँ प्रकाश वहाँ उल्लास, संसार का रोना-धोना विदा। अजब खेल है दुनिया का। मियाँ की जूती मियाँ का सर। ह्रदय की वासना ने दम फुलाया, दम घुटाया। जब सन्त दर्शन हुए दम आया। तभी तो सन्त कहता है "मेरी आँखों में देख।"

आँखों में क्या देखा? विश्व प्रेम, प्राणी मात्र के लिए सहृदयता। निर्भीक आँखों की अपूर्व ज्योति। ज्योति ने सुप्त ज्योति को प्रज्ज्वलित किया

प्राणों की प्रेरणा से। भाव ज्योति, भव्य ज्योति, मन मोती की आभा सहस्त्र गुणी होकर हृदय मन्दिर को प्रकाश स्तम्भ बना देती है। कल्पना थी जब तक अनुभवगम्य अवस्था न थी। आँखें मिलीं, नव संसार मिला जहाँ, विकार और विचार पंगु बन बैठे। आत्मज्योति का प्रसार हुआ तो अलौकिक प्रचार ने आचार विचार के मोहाच्छन्न संस्कार को एक नया संसार दिया।

दिव्यता का प्रचार कैसा? भाव सौरभ 'सौरव' बन आह्वान करता है उन भ्रमरों का जो भ्रमवश रव कर भ्रमण कर रहे थे अभाव भव में। समीप आये, रस पान किया, मस्त हुए प्रचार हुआ दिव्य भावों का। श्रद्धालु भक्त नत मस्तक हो रहा है, सन्त हृदय द्रवीभूत हो रहा है - भाव प्रसून प्रस्फुटित देखकर। यह परिवर्तन हृदय का सन्त को प्रमुदित कर रहा है।

आँखों में देखा किन्तु, आँखों से न देखा तो दर्शन मात्र का ही आनन्द पाया। देखा (सन्त की दृष्टि में) और स्वयं देखने में अन्तर है। इस अन्तर का भी अन्त होता है जब अन्तर का प्रत्येक भाव तर हो जाता है प्रेम गंगा में। हृदय-तंत्री की नवीन झंकार चित्त वृत्तियों को प्रेम विभोर कर देती है। नवीन लय, लय कर देती है उन वृत्तियों को जो सुख-दुःख में व्याकुल हो जाती थी।

नया प्रभात बीती रात। देखा-देखने में बदला। अब किससे बदला लेगा? भाव बदला कार्य बदले। बदले का भाव बदला। बद (बोल) बद (प्रतिज्ञा) का भाव बदला। क्या कहे और कैसे प्रतीज्ञा करे जब कहना नहीं, होना है। प्रतिज्ञा क्या अब प्रतीक्षा भी न रही। सन्त की वाणी अमर है। वह कहता है "आँखों में तो देखा किन्तु, मेरी आँखों से न देखा तो अपूर्ण भाव पूर्ण कैसे हो"? गुण भगवान में देखा, संत में देखा, किन्तु जब तक ग्रहण न हुआ तो अपूर्ण ही रहा। तथागत गुणातीत अनेक, किन्तु गुण अवगुण का भाव

शान्त नहीं हो पाता, जब तक संत की दृष्टि से न देखा जाये। दृष्टि पूर्व अवस्था में भी थी और अब भी है, किन्तु संत की दृष्टि न थी। न संत की, न अनंत की, न अंत की (दृष्टि थी)। थी केवल काम की, आराम की, लोभ की, क्षोभ की, मोह की, विमोह की, मद की, प्रमाद की, विषाद की, विवाद की, शंका की, प्रशंसा की, भेद की, विभेद की।

विभिन्न भाव संत की दृष्टि में न थे। विभिन्नता रहती है जब तक संत दृष्टि से न देखा जाये। अभिन्न के लिए विभिन्न, तो मन खिन्न हो जायेगा और संत दृष्टि का फिर प्रश्न ही कहाँ रहा ? रहा चिरसंचित संस्कारों का समूह जो अनेक जन्मों के पश्चात भी हृदय की जलन शान्त न कर सका।

संत ने व्याकुल प्राणी की व्याकुलता देखी, कातरवाणी सुनी, सह न सका, जिसने वाणी के अनेक वाण सहे थे। प्राणी प्राणों से प्रिय, उसकी (संत की) दृष्टि छिद्रान्वेषी नहीं, वह तो भाव प्रसून अर्पित करने आया है शुष्क, नीरस प्राणियों को, जिन्हें प्राण तो मिले, किन्तु वह भावना न मिली जो संत हृदय की निधि है। प्राणी दृष्टि रहते भी देख न पाया जिसे देखने के लिए दृष्टि मिली, सृष्टि मिली। दृष्टि थी सृष्टि थी, किन्तु संत दृष्टि न थी। भाव में अभाव था, संसार था, असार था, चक्र था विचारों का स्वयं को पद-दलित करने के लिए, पदस्खलित करने के लिए, अशान्त वातावरण था निज को भ्रमित करने के लिए, मत थे तम को प्रोत्साहित करने के लिए, संबंध थे बन्धन के लिए, वाणी थी मिथ्या भाषण के लिए, प्राण थे सम्मोह के लिए, विमोह के लिए, दृश्य थे अदृश्य के लिए। शान्ति के दर्शन दुर्लभ, किन्तु संत दृष्टि ने शान्त किये प्रबल मनोवेगों को। अपूर्व आनन्द था। आनन्द का मूल स्त्रोत हृदय में था, प्राणों में था।

पदार्थों में आकर्षण था पूर्वावस्था में उपभोग के लिए, आज योग्य के लिए। प्रकृति की कृति विकृति सम्मुख थी। पाप-पुण्य की परिभाषा सुनी ही थी, आज देखा पाप और पुण्य का रूप। पुण्य का परिवर्तन पाप का कारण था। दृष्टि रहते हुए भी मर्म न समझ पाता था कर्म अकर्म का।

ग्रन्थ पढ़े, मन की ग्रंथी ज्यों की त्यों थी, केवल बुद्धि विलास था। हास, परिहास था जगत का, किन्तु आज नया साज था, नया ताज था विचारों का। सन्त दृष्टि के चमत्कार थे। नमस्कार, तिरस्कार समान था। पुरस्कार मनोविकार सा प्रतीत होता था। संहार, संचार, विकार, प्रत्युपकार, बिहार आज संस्कार के अपने ही विनोद प्रतीत होते थे।

यह तो दृष्टि ही है, जो कुछ दिखला दे वह अल्प है। दृष्टि का सम्पर्क एक ओर बाह्य पदार्थों से, दूसरी ओर आभ्यन्तरिक भावनाओं से। भीतरवाला बाहर आया तो उसने बाहर भी वही रंग जमाया, जो भीतर था। किन्तु बाहर वाले दृश्यों ने जब भीतर प्रवेश किया तो भीतरवाले का वेश ही बदल डाला। कारण ? कारण अनेक थे - भ्रांति थी, शंका थी, मलिनता थी बाहरी दुनिया की। अन्तरद्वन्द्व हुआ। आज संत दृष्टि ने शांत किया भ्रान्त विकारों को। पूर्व अवस्था में बाहरी विचार प्रबल थे, सबल थे और निर्बल थे भीतरी विचार। संत ने बल दिया, देव की भावना दी वह स्वयं बदलेव था। इसीलिए कहा – "मेरी आँखों से देख"।

संत दृष्टि दृश्य अदृश्य को स्पष्ट कर रही है। सूक्ष्म विचारों के अदृश्य कण अब तक आवरण का रूप धारण कर, स्वरूप की आनन्द ज्योत्स्ना को आच्छादित कर, मन और तन को संघर्ष स्थल बना खेल दिखला रहे थे, आज दृष्टिगोचर हुआ। संघर्ष आज संग और संघ बन रहा था। संग सच्चिदानन्द का, संघ प्रेम-पुजारियों का।

संत दृष्टि ही दिव्य दृष्टि है, जिसे पा मानव जीवन सार्थक होता है, यह रहस्य स्पष्ट हो रहा था। रहस्य रस बना। प्राणों में, शुष्क प्राणों में, नवीन स्पन्दन। क्रन्दन वन्दन बना। मन मंथन अमृत मंथन। संत दृष्टि वृष्टि कर रही है प्रेम सलिल के रूप में। सूक्ष्म विचारों के अदृश्य कण उष्णता को परित्याग कर शीतल हो रहे हैं।

अब 'मुझे देख'। मैं भक्त भी भगवान भी, भोगी भी योगी भी, माया भी मायापति भी, काया भी छाया भी, स्वार्थी भी परमार्थी, दुःख भी सुख भी, भूत भी भविष्य भी, क्रोधी भी शांत भी, मोही भी निर्मोही भी, रात्रि भी दिवस भी, अन्धकार भी प्रकाश भी, शोक भी हर्ष भी, अणु भी महान भी, मैं भी तू भी। किन्तु अब भी तब भी कह कर शांत नहीं हो पाता कि मैं क्या हूँ? मैं शिव-शक्ति, राम-सीता, कृष्ण-राधा कह कर भी क्या कहूँ कि मैं क्या हूँ? 'मुझे देख' तो मैंने कहा, किन्तु कह कर न मुझे सन्तोष हो पाता है और न असन्तोष।

"मेरी आँखों से देख" यह कहना सरल है, किन्तु 'मुझे देख' यह सरल कहाँ पहेली है। पहले ही पहल मैं था या तूँ, यह भी पहेली है। ज्ञानी कहेंगे कि मैं था और भक्त कहेंगे कि तू। मैं तू का विवाद निरर्थक। मैं था तो तू भी था अदृश्य था तो दृश्य भी था। अवतारवाद कहता है कौशल्या पहले, देवकी पहले। किन्तु शास्त्र कहता है राम पहले, कृष्ण पहले। अब मैं कैसे कहूँ, कि मैं पहले या तू पहले। जो कुछ भी हो तू 'मुझे देख'। एक बार भी देख पायेगा तो तू, तू न रहेगा, मुझमें ही समा जायेगा। ऐसा मेरा विश्वास है।

मुझे देखना सरल भी गरल भी। सरल-सरल हृदय वालों के लिए और गरल, गरल उपासकों के लिए। दूसरे शब्दों में दुनियादार मनुष्यों के लिए। मैं नहीं कहता कि दुनिया गरल है, व्यवहार गरल है। किन्तु सरल को

गरल समझने वाले के लिए सरल ही गरल बन जाता है। मैं तो यही कहूँगा कि मुझे गरल दृष्टि से न देख, सरल दृष्टि से देख। गरल सरल दृष्टि में बदल जायेगा।

वक्र बकता है, सरल चखता है प्रेम रस। वक्र खुदा का शुक्र न मानता है और न जानता है। सरल सुधा वक्र व्यथा। सुधा अन्तरान्त्मा की, व्यथा तन की मन की। किन्तु कथा से कब व्यथा दूर हुई? कथा क्षणिक व्यथा दूर कर सकती हैं, किन्तु सुधा सुध-बुध भूला देती है - तन की मन की। सुधा रस पान करेगा तब ही न मुझे देख पायेगा। नहीं तो व्यथा में ही जन्म वृथा जायेगा अथच मिथ्या और व्यथा का गीत गायेगा।

हताश और निराश का जीवन जीवन नहीं, वह जीवन भार बन जाता है, जिसे सम्पूर्ण संसार भी मुक्त नहीं कर पाता भार से। भार दिल पर है, भार संसार का, तभी तो हताश और निराश बना। बना भी खूब, कभी जीव कभी शिव, कभी दानी कभी अभिमानी बना और कभी दान पात्र बना और कभी दया पात्र। किन्तु जो बनना था, होना था वह बन न सका। क्यों? मुझे न देखा। देखा उनको जो काया माया के गीत गाते थे, कर्त्ता कर्म की व्याख्या करते थे, ऋषि मुनियों की वार्ता सुनाते थे, देव दर्शन और दर्शन की गम्भीर गुत्थियों को सुलझाते हुए प्रतीत होते थे। मैं क्या कहूँ? साधक के लिए सभी उपकारी। उपकारी इस अंश में कि किसी का अनुभव था जो सम्भवत: लाभप्रद होता और अपकारी इसलिए कि उनकी सभी बातें स्वयं के लिए उपयुक्त न जान पड़ती थीं, किन्तु इस विवेचन से क्या लाभ, जब लाभ ही नहीं उठा पाता है लाभ से।

"मुझे देख" मैं आत्मानन्द हूँ। मेरा रूप नहीं, रंग नहीं, भंग नहीं, तंग नहीं, फिर भी मेरा रूप सर्वत्र है, रंग ऐसा है कि सब रंगों का जनक है, मैं

उमंग, असंग और तंग नहीं विराट हूँ, विशाल हूँ। हाल-बेहाल नहीं, नरकंकाल नहीं, कंगाल नहीं, महाविशाल हूँ। जंजाल नहीं, प्रेम जाल हूँ। जिसे जानकर नर रत्न हो जाता है, निहाल हो जाता है, हाल-बेहाल कैसा ?

किन्तु सवाल है कि मुझे जाना कैसे जाये मैं इन्द्रियातीत हूँ ? अतीत ही नहीं, भविष्य हूँ, वर्तमान हूँ। मानना और न मानना के परे हूँ, फिर भी मैं कहता हूँ – "मुझे देख"। शब्दातीत कहा जाता हूँ, फिर भी शब्द श्रवणमात्र से अपूर्व भाव में मेरी अनुभूति होती है। भावातीत कहा जाता हूँ फिर भी भाव में ही मेरी अनुभूति निहित है।

कहने और समझने से यदि बात बन जाती तो बातों ही बातों में काम बन जाता। किन्तु ऐसा होता कहाँ है ? "अनेक जन्म संसिद्धि" फिर क्यों कहा गया ? बात सीधी भी टेढ़ी भी। बात कुछ ऐसा आघात करे दिल पर, मन पर कि अनुभूति के लिए व्यक्ति व्याकुल हो उठे, प्रेमाश्रु निर्झरणी बन जाये, क्षण-क्षण प्रतिक्षण आत्म-विस्मरण होने लगे, सद्गुरु की कृपा सहायक बन जाये परमात्म देव की महान करुणा का वर्षण होने लगे, तो व्यक्ति मुझे देख पाये।

'मुझे देख' - मैंने स्वयं को जानने के लिए, पहचानने के लिए, दर-दर की खाक छानी, अन्नाभाव में सूखी पत्तियाँ चबायीं, मान-अपमान सहा, तीर्थाटन, उपवास किये, रात्रि जागरण, विरह गान गाये; किन्तु देखा अपने को जब प्रभु कृपा सद्गुरु कृपा बनी। यह मेरा इतिहास नहीं, सभी साधक किसी न किसी रूप में इन कार्यों को अपनाते हैं, तभी अपना रूप समझ पाते हैं। फिर भी मैं कहता हूँ – "मुझे देख"। मैं भी तेरी ही तरह एक साधारण व्यक्ति था, जो व्यक्त न कर पाता था आत्मानन्द को, प्रेम धन को। ये अभिमान की बातें नहीं, 'स्व' अनुभव की कुछ बातें हैं। अभिमानी तो रावण

और कंस की तरह उसके नाम से घबड़ाता है। उसका नाम मृत्यु संदेश लाता है और प्रत्यक्ष दर्शन तो मृत्यु का कारण बन जाता है।

भक्त नाम गा-गाकर जीवन आनन्द पाता है और दर्शन (आत्मानुभूति) पाकर आत्म-विभोर हो जाता है। मैं क्या कहूँ - कुछ बातें कहकर भी आत्म-संतोष नहीं हो पाता। अनन्त की बातों का कब अंत? बातें कहकर शांत ही होना पड़ता है, क्योंकि वाणी कहाँ तक उसका (यानि मेरा) वर्णन कर सकती है।

"मुझे देख," मैं तुझे देख रहा हूँ - तेरा प्रेम-प्रार्थी हूँ - स्वार्थी नहीं, सारथी हूँ तेरे जीवन रथ का। 'मुझे देख' मैं तुझे याद करता हूँ तभी न तू मेरा स्मरण करता है। किन्तु इस मर्म को समझेगा कौन? मेरा मर्म मेरा भक्त समझता है तभी न वह कर्म को तिलांजलि दे, मेरा नाम रट-रटकर हृदय की जलन मिटाता है। वह जलता है दीपक की तरह, जिसका जलना स्नेह (तेल) बढ़ाता है, निर्वाण पाता है, हृदय-मन्दिर में प्रभु प्रतिमा का निर्माण करने के पश्चात। खेल दिखलाता है, खेलने के पश्चात। बातें कहता है अनुभव प्राप्ति के पश्चात। आनन्द देता है आनन्द प्राप्त कर।

जब हुआ प्राप्त, कथा हुई समाप्त। प्रभु है अभिव्यास, चर-अचर में, फिर जीव क्यों करता है संताप, विलाप, निरर्थक वार्तालाप। मैं कहता हूँ - तू "आप" फिर, क्यों कहता है पाप, पाप "जब आप ही आप तो कहाँ पाप"। फिर भी मैं कहूँगा – "मुझे देख"।

★★★★★

प्राकृतिक भजन

प्रकृति भजती है अपने राम को श्याम को। प्रकृति स्थूल, प्रकृति सूक्ष्म। सूक्ष्म भजन स्थूल रंजन। रंजन-निरंजन के लिए। क्षुब्ध प्रभंजन की गति, सृष्टिका स्पन्दन। स्पन्दन, क्रन्दन नहीं, वन्दन है जग-बन्धन से मुक्त होने के लिए।

अद्‌भूत आवृति है प्राकृतिक कार्यकलापों की। राम रमण कर रहा है श्याम आकृष्ट। प्रकृति नृत्य कर रही है राम में रमण करने के लिए, श्याम को मुग्ध कर लीला संवरण करने के लिए। यह भजन है, जिसे अवलोकन करना भी भजन है।

सन्त जन, जन-जन में अनुराग, वीतराग की भावना जाग्रत करने के लिए जन्म ग्रहण करते अथच प्रणव का प्रणय प्रसारित कर प्रकृति की कृति का रहस्योद्‌घाटन करते। प्रकृति भी प्रणय के लिए मूक बन हृदय की गति का भी भान नहीं होने देती। इसलिए निर्जीव सी प्रतीत होती है। निर्जीव भी कहीं सजीव की सृष्टि कर पाया है? प्रेम में निमग्न प्रकृति यदि निर्जीव प्रतीत हो तो धन्य है उसका प्रणय।

प्रणय यदि प्रकाश में आया तो प्रदर्शन कहलाया। निमग्नता सजीव को भी निर्जीव बना देती है। यह प्रणय की चाह है जहाँ राह ही राह है, वाह-वाह की उसे आवश्यकता नहीं।

प्राकृतिक भजन का अवलोकन भी सरल नहीं। हृदय की भावना तरल, भजन सरल। अंतस्सलिला सरस्वती। भाग्यवती वह भावना जिसका प्रवाह सुधामय है। अन्त:करण की प्रवृत्तियां वर्षण कर रही हैं अमरत्व भाव

का। व्यक्ति की दृष्टि तीक्ष्ण कहाँ जो सूक्ष्म गति का अवलोकन कर सके। अन्तस्सलिला सरस्वती। स्नेहसलिल सरस है, कथन सरल है, अनुभव विरल है। हृदय कमल स्नेह सलिल में ही प्रस्फुटित होता है। अन्यथा प्रति मुहूर्त संकोचन प्रस्फुरण का कार्य हृदय स्पन्दन का कारण है।

विशाल प्रकृति का विनोद मानव के लिए दानव लीला सम प्रतीत होता है। यह विनोद आमोद-प्रमोद का कारण बन सकता है, यदि प्राणी संत-वाणी पर विश्वास कर प्राकृतिक भजन का अवलोकन करे। अवलोकन - अब लोक न परलोक अब अवलोकन है भजन का, जिसे संत जन, सज्जन मनोरंजन के लिए करते आये।

वाह्य प्रकृति के सूक्ष्म भाव कण प्रवेश करते हैं आभ्यन्तरिक प्रकृति प्रदेश में। विकृति की प्रकृति विकृत, भाव कण, आनन्द कण तिरस्कृत हो पुनः गमन करते हैं वाह्य प्रकृति की ओर। भावों का आवागमन मानव तन के लिए पुनरागमन का कारण बन जाता है। यह रहस्य नहीं स्पष्ट है - ब्रह्मचिन्तक के लिए, भक्त हृदय के लिए।

प्रकृति की उष्णता शीतलता का अनुभव सहज, उसका भजन दर्शन दुर्लभ। दुर्लभ प्राप्त मानव तन में भी यह भाव सुलभ न हो सका तो अमूल्य (अति मूल्यवान) तन अमूल्य ही रहा (निरर्थक)। जड़ धरा ने धारण किया सूक्ष्म कणों को रत्नगर्भा हो गयी। भाव कण भव तारण बन आनन्द वर्षण कर रहे हैं यह अवलोकन प्राकृतिक भजन दर्शन का सहायक है।

प्रकृति त्रिगुणात्मक, प्राणी भी त्रिगुणात्मक। त्रिगुण एक गुण के त्रिविध रूप। रूप के अनुरूप प्राणी की प्रकृति। गुण अब सद्गुण अवगुण न

रहा, सगुण निर्गुण न रहा, प्रकृति पुरुष न रहा, जीव शिव न रहा, भाव अभाव न रहा। रहा भजन, वह भी भजन न रहा प्रकृति के भजन में समा गया।

अपूर्व सम्मेलन है भजन का। प्रकृति और प्राणी एक ही का भजन कर रहे हैं। प्राणी का भजन क्षणिक, प्रकृति का भजन अहर्निश। क्षणिक भजन क्षणिक ही रहा, जब तक अहर्निश भजन का मर्म न समझ कर्म धर्म के ही गीत गाता रहा। कर्म अकर्म हो गया, धर्म ने धारण किया शुद्ध चेतन के भजन को। प्रकृति का भजन प्राणी की प्रकृति बन गया, क्षणिक भजन अहर्निश होने लगा। प्राणी का विश्राम और काम भजन बन गया। अवलोकन का विषय अब न रहा। अब लोक और परलोक में भजन ही भजन। यह भी अपूर्व अवस्था है।

प्रकृति का प्राण और प्राणी का प्राण एक ही है। प्राण एक, भजन एक, भजन का सृजन एक, भाव का भगवान एक, नृत्य की ताल एक, एक का मिलाप एक, एक का वियोग एक, एक की कथा एक, एक की व्यथा एक, एक का आकार एक, एक का विचार एक, एक की प्रकृति एक, अब एक का भजन एक।

यह मृत्युलोक अद्‌भुत है, जहां मर कर भी प्राणी अमर होता है। देव को अमर कहते हैं, किन्तु बलदेव तो मृत्युञ्जय है, अमरता का धाम है। लीला काल में ही काल की लीला देखी, प्रकृति का भजन अवलोकन किया, सरल साधन का पथ निर्माण किया प्रभु अनुकम्पा से।

अनुभूति का एक स्तर है जहां तारतम्य नहीं, तार लग जाता है अदृश्य बेतार से और तम तो उत्तम सर्वोत्तम के रूप में परिवर्तित हो जाता है। आज उसे पुरुषोत्तम की स्मृति ने व्याकुल कर रखा है। अनुभूति का एक

स्तर और भी जहां अनुभूति का भान भी नहीं रहता। यह प्रकृति पर विजय की अवस्था है। प्रकृति के भजन का अवलोकन ही महान, प्रकृति विजय तो शब्दातीत है। अवस्था का वर्णन शब्द द्वारा असम्भव है। प्राणी असम्भव को सम्भव करने में लगा है, उसे आंशिक सफलता भी प्राप्त हुई है। प्रयास है संन्यास नहीं। प्राकृति भजन का अवलोकन भी एक महापुरुष का अनुभव है।

★★★★★

प्रकृति और स्वभाव

कृति - प्रकृति
भाव -'स्व' भाव
प्रकृति अपना कर चक्कर में डालती है।
भाव तो 'स्व' का साक्षात्कार करता है।
प्रकृति - अनुकूल, प्रतिकूल प्रकृति ही है।
भाव - अभाव मिटाता 'स्व' की ज्योति जगमगाता।

प्राणी के प्राणों की सूक्ष्म गति में व्यक्तित्व रमण, मूक, शान्त। गति को देख चकित, भ्रमित (प्राणी)। गति प्राणों में, कृति प्रकृति के अंग-अंग में। कृति का प्रभाव मानव प्रकृति बन विकृति और स्वीकृति बन बैठा। स्वभाव की स्मृति, विस्मृत। प्रकृति को ही स्वभाव समझ विकार के विचारों का प्रचार प्रारम्भ हुआ। पाप पुण्य मन के विषय बने। मन को कृषक का रूप दिया गया, अथच पाप, पुण्य रूपी बीज काया रूपी खेत में आरोपित किये गये।

यह तो प्रकृति का खेल है, स्वभाव का यहां स्थान कहाँ? स्वभाव अनभिज्ञ प्राणी को प्रकृति ही प्रतीत होता है, किन्तु प्रकृति तथा स्वभाव में अन्तर है। स्वभाव वह भाव है जहाँ प्रकृति की पहुँच नहीं। साधारण प्राणी प्रकृति ही में रमता और समझता कि यही मानव का स्वभाव है।

पशु-पक्षी तथा साधारण जन प्रकृति से अनुशासित होते तथा वही (प्रकृति ही) उनका कर्म, धर्म बन जाती है, ऐसा विज्ञजन का कथन है। जन जब भजन में रमण करता है, प्रकृति का भ्रमण, विषय वासना की प्राप्ति का श्रवण का रहस्य आंशिक रूप में जान पाता है। भजन की शान्त गति, भ्रान्त

प्राणी को प्रकृति चक्र से मुक्त करती, युक्त करती है स्वभावलोक से, जहाँ लोक-परलोक, पाप-पुण्य, बीज-किसान-खेत आदि की कथा नहीं रहती। रहता है 'स्व' तथा 'स्व' का भाव।

प्रकृति-पुरुष की वार्ता श्रवण, मनन का विषय बनी। अनेक धर्म ग्रंथों में प्रकृति की गुणावली विस्तृत रूप से वर्णित की गयी। मनुष्य ने प्रकृति-पुरुष की गाथा में स्वभाव को कब स्थान दिया? प्रकृति के विभिन्न गुणों, अवगुणों की ही चर्चा की, किन्तु स्वभाव फिर भी उपेक्षित ही रहा।

प्रकृति तामसिक, राजसिक, सात्विक। स्वभाव को सात्विक की संज्ञा देना सीमित करना है। स्वभाव पुरुष बनाता नहीं पुरुष ही है। भाव एक क्रिया विशेष है जहाँ क्रिया की विशेषता नहीं, भाव ही प्रधान है। भाव - स्वभाव की ओर ले जाता है। यह भी विषय का वर्णन मात्र है। वर्णन सरल, अवस्था सरल दुष्कर कहना भी उचित नहीं। अवस्था में वर्णन की स्थिति गति कहाँ? अवस्था को अनुभूति शब्द से सम्बोधित किया जाता है, किन्तु अवस्था वैसी अवस्था ही नहीं रहने देती जहाँ वर्णन हो सके ऐसा अनुभवी व्यक्तियों का अनुभव एवं कथन है।

आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, पुरुष, पाप, पुण्य की अनेक कथाएँ हैं और अनेक ग्रन्थ। स्वभाव ग्रन्थों का विषय न बना अवस्था या अनुभूति ही रहा।

प्रचलित स्वभाव शब्द प्रकृति का पर्यायवाची शब्द समझा जा रहा है, जैसे आत्मा, अन्तरात्मा का। विज्ञजन जानते हैं अन्तरात्मा आत्मा नहीं, वह तो आत्मा से प्रकाशित है स्वयं प्रकाश नहीं। यह भ्रम प्रकृति और स्वभाव शब्द के व्यवहार में भी है। यदि प्रकृति ही स्वभाव है तो इनके विश्लेषण की

आवश्यकता ही न होती, किन्तु भ्रम को यथार्थ मान बैठना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता।

प्रकृति आवृत्ति, स्वभाव मुक्त। आवृत्ति में कुछ नवीनता, मुक्ति मुक्ति ही है आवृत्ति नहीं, नवीनता नहीं। मुक्ति युक्ति में है, सूक्ति में है यह कहना भी आंशिक सत्य है। युक्ति और सूक्ति सहायक हैं मुक्ति के लिए।

स्वभाव छद्मवेशी भाव, प्रकृति के कृत्य ज्ञात अज्ञात में अपने चक्र चलाते ही रहते हैं। स्वभाव से सम्पर्क होता तो प्रकृति का रहस्य भी प्राणी कुछ समझ पाता, किन्तु प्रकृति को ही स्वभाव समझने वाला क्या समझे? प्रकृति में कृति है, प्रगति है, स्वभाव स्वयंपूर्ण। विचारों की तरंगें उठती हैं प्रकृति में, स्वभाव स्वयं गगन सदृश विशाल भाव है जहाँ मेघ नहीं, गर्जन नहीं, तर्जन नहीं, विसर्जन नहीं, अर्चन नहीं, वन्दन नहीं, है अर्जन वह भी कथन मात्र? भाव 'स्व' में समाया स्वभाव कहलाया।

स्वभाव का ज्ञान भी अति अल्पसंख्यकों को है। प्रकृति, स्वभाव का अन्तर वैसा ही रहस्यजनक है जैसा भजन तथा प्राकृतिक भजन का।

विज्ञान विमोहित प्राणी विज्ञान के अन्वेषण में ही संलग्न तथा विमग्न। प्रकृति की अनुकम्पा का इच्छुक स्वभाव के भाव से अनभिज्ञ ही रहा। विज्ञ भी स्वभाव तथा प्रकृति के अन्तर को समझ न सका, अन्य जन अन्न और जन की चर्चा कर मन बहला रहे हैं, प्रकृति का खेल ही ऐसा है।

छद्मवेशी स्वभाव, छद्मवेशी नहीं रहता, चाहिए पहिचान। पहिचान, परिचित कराता है, वेश का मर्म बताता है, तभी प्राणी समझ पाता है।

अवतारवाद में दो भक्त आते हैं, अंजनीपुत्र हनुमान तथा अर्जुन। प्रथम दर्शन दोनों के लिए समस्या है, किन्तु पहिचान ने प्रभु का सखा तथा भक्त दोनों को ही अमर बना दिया।

साधारणतः प्रकृति माया, स्वभाव पुरुष। प्रकृति दासी स्वभाव प्रभु। स्वभाव अवतारी नहीं। अवतारी नहीं, अतः लीलाधारी नहीं। और प्रकृति में तो लीला ही प्रधान। प्रधान ध्यान ही नहीं रहने देता 'स्व' का। आत्मबोध तथा स्वभाव समकक्ष हैं, यह कहना सरल है, उनके लिए जिन्हें स्वभाव से परिचय नहीं। भगवान राम तथा कृष्ण की लीला भिन्न है। साम्यभाव है दुष्ट दलन में। किन्तु प्रकृति, स्वभाव में कहीं भी साम्यभाव नहीं। दोनों भावों के मार्ग भिन्न। प्रकृति में लीला ही लीला है, स्वभाव में लीला कहाँ?

'स्व' की अनुभूति स्वभाव। 'स्व' में 'पर' कौन? परा, अपरा विद्या में ज्ञान प्रधान। ब्रह्मज्ञान तथा आत्मबोध में भी ज्ञान ध्यान की ध्वनि गूँजती रहती है, किन्तु स्वभाव में परिचय ही यथेष्ठ है। प्रश्न हो सकता है, 'स्वभाव' से परिचय? जी हाँ, स्वभाव के परिचय के अभाव में ही ज्ञान ध्यान की बातें आती हैं, अन्यथा स्वभाव तो 'स्व' का भाव है, ज्ञान-ध्यान का विषय नहीं।

'भावयोग'

'स्वभाव' की ओर संकेत करता है "जप, तप योग बिना ही भाव सुधा प्याये" भाव योग का यही लक्ष्य है।

प्रकृति के कार्य कुछ प्रकाश में कुछ अन्तर्निहित। ध्यान, ज्ञान के कार्यों की भी यही अवस्था है। स्थूल दृष्टि प्रकट कार्यों से प्रभावित, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि इन्हें इतना महत्व नहीं देती, अतः कार्यों की आवृत्ति, पुनरावृत्ति का चक्र चलता ही रहता है। प्राणों की आकुलता में प्राणी कार्य करता रहता

है। कार्य करते-करते प्राण थक जाते हैं, किन्तु शान्ति कहाँ? प्रकृति स्वयं प्रति मुहूर्त रूप बदलती रहती है, वह प्रकृति में रमण करने वाले प्राणी को कब शान्त होने देती?

प्राण-पखेरू उड़ गये प्रकृति ने फिर भी प्राणों को शान्त न होने दिया। नवीन कलेवर धारण कर प्राणी पुनः प्रवेश करता है स्थूल प्रकृति मण्डल में। अब स्वभाव की ओर अवलोकन किया जाय। यहाँ आकुलता नहीं, व्याकुलता नहीं, 'स्व' में समाया, उसे स्थूल, सूक्ष्म प्रकृति स्पर्श भी नहीं कर सकती। नवीन कलेवर धारण वह प्राणी करे, जो प्रकृति में ही रमा उसका गुणगान करता अथच स्वभाव और प्रकृति को पर्यायवाची समझता है।

जीवन में स्वभाव का इतना महत्व? महत्व ही नहीं, यह वह तत्व है, जिसके परिचय के अभाव में प्राणी जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता। स्वभाव में आघात नहीं, व्याघात नहीं, संताप नहीं, मिलाप नहीं, आलाप नहीं, संलाप नहीं, है भाव वह भी 'स्व" में मिलन का। प्राकृतिक भजन में भजन है, स्वभाव में न भजन है न रुदन।

'स्व' कौन? 'स्व' मौन। भाव कैसा? भाव ऐसा जहाँ अभाव के लिए स्थान ही नहीं, प्रभाव का प्रस्थान है प्राकृतिक जगत में।

पृथ्वी गुरुत्वाकर्षण जननी। प्राणी आकर्षण के वशीभूत। ऐसा तीव्र मधुर आकर्षण है कि प्राणी स्वभाव को भूल बैठता है, यही नहीं, प्रकृति को ही स्वभाव कहने लगता है। स्वस्थ होता तो स्वभाव से परिचय होता। आकर्षण ने उसे अस्वस्थ बना रखा है। काम पीड़ा से बेचैन, क्रोध ज्वर में प्रलाप, लोभ तृषा से व्याकुल, मोह-निद्रा में बेहोश, मद औषधि का प्रार्थी, मत्सर मच्छड़ ने बेहाल कर रखा है प्राणी को।

जीवन को वरदान न समझा, समय को काल कहने लगा। समय तो काल न था। समय था सम होने के लिए, साम्यभाव के लिए, स्वभाव के लिए। समय को काल न कह प्राणी, नहीं तो एक-एक क्षण कष्टदायक होगा। काल, अकाल भयभीत करता है प्राणी को, 'स्व' कालातीत है। भय कैसा? मय आनन्दमय है 'स्व'।

स्वागत है उस भाव का जो 'स्व' का साक्षात्कार कराता है। ब्रह्म और भ्रम की बातें सुनीं, स्वभाव की चर्चा कहाँ? प्रकृति ही स्वभाव कहा जाता है, वहाँ स्वधन गुह्य ही रहा। अन्वेषक भाव है, जिसकी गति अगाध है। भाव तरंग है, भाव सागर। तरंग क्षणिक भाव, सागर स्थायी। कुछ भाव मस्तिष्क में चक्कर लगाया करते हैं, उन्हें यदि सहायक प्रेरणा मिल जाती है तो वे क्रमशः स्थायी भाव बन जाते हैं। यही भाव व्यक्ति की प्रकृति बन जाते हैं।

दार्शनिक नवीन भावों का उपासक है। भक्त भावों का नहीं भगवान का उपासक है। यदि यह कहा जाये कि भगवान भक्त का उपासक तो तर्कवादियों के लिए विवाद का प्रश्न बन जायेगा।

समुद्र में अनेक जीव, जीवों में भिन्न, भिन्न प्रकृति। प्रकृति ही उनकी रक्षक, भक्षक, बन जाती है अन्यथा एक ही समुद्र में वास करने वाले जीवों में विरोधाभास क्यों? प्रतिद्वन्द्विता क्यों? प्रीति क्यों? विरक्ति क्यों? यह प्रकृति ही है जो जीवों को ऐसा बना देती है। यही अवस्था भवसागर में है जहाँ जीवित रहने के लिए प्राणी अनेक कर्म, कुकर्म करते रहते हैं। किन्तु स्वभाव में ऐसी बातें नहीं। 'स्व' की जानकारी प्राणी को इन प्राकृतिक विरोध से मुक्त करती तथा 'स्व' से युक्त करती।

शब्द ब्रह्म है तो शब्द भ्रम भी। भ्रम में गति तीव्र। तीव्रता व्यक्ति को ऐसा चंचल बना देती है कि वह समझ ही नहीं पाता कि उसका स्वभाव क्या है। शांति में गम्भीरता है। जहाँ गम्भीरता है वहाँ विचारों की निरर्थक तरंगें क्यों उठने लगीं? प्रशान्त सागर प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रशांत हृदय क्यों व्याकुल होने लगा? यह भी प्रकृति का ही खेल है। स्वभाव में तरंगे नहीं, विरोधाभास नहीं। जहाँ विरोध, वहाँ प्रतिरोध, प्रतिशोध। जहाँ प्रतिशोध, वहाँ क्रोध प्रधान क्रोध प्रथम। शोध, बोध तो शांत प्रकृति में वास करते हैं।

यह प्रकृति भी विचित्र है। अनुकूल अनुरक्ति, प्रतिकूल विरक्ति का कारण भी प्रकृति ही है। ६ प्रकार के विकार इसके श्रृंगार। प्राणी इन विकारों से ही मुक्त नहीं हो पाता, फिर प्रकृति पर विजय तो इसके लिए असम्भव सी हो जाती है। स्वभाव में विकार विचार नहीं। प्राणी प्रकृति के वशीभूत, 'स्व' परिचय की उसे आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। 'स्व' इसका गुप्त धन है। अब आडम्बरी भक्ति उसे शान्ति प्रदान नहीं कर पाती, वह व्याकुल हो जाता है और चाहता है कि उसे शान्ति प्राप्त हो, ऐसी अवस्था में यदि अज्ञात-शक्ति उसकी सहायक हो तो वह प्रकृति तथा स्वभाव का अन्तर जान पाता है।

'स्व' से परिचय तो कोई 'स्व' परिचित ही (परिचय) कराता है। रहस्य नहीं स्पष्ट है। 'स्व' सत्य एवं शाश्वत। प्रकृति अनित्य एवं मिथ्या। प्रतिक्षण परिवर्तन ने उसे अनित्य, मिथ्या बना रखा है। इस प्रकृति पर विश्वास करने वाला व्यक्ति भ्रमित हो, पश्चाताप करता तथा नवीन कलेवर धारण करता हुआ थक जाता है। प्राकृतिक भजन करने वाली प्रकृति सूक्ष्म है। स्थूल और सूक्ष्म में स्थूल दृष्टि का विषय है और सूक्ष्म विवेक का, चिन्तन का, मनन का।

रूप स्थूल अरूप सूक्ष्म। रूप, स्वरूप भी शब्द है। स्वरूप, 'स्व' का रूप है और रूप की दिवानी दुनिया। स्थूल प्रकृति रूप और स्वरूप 'स्व' भाव। प्रकृति का उपासक स्वभाव को कब जान पाया ?

भूत-प्रेत पर विश्वास, आत्मा-परमात्मा पर क्यों नहीं। भूत-प्रेत अनादिकाल से भय का कारण हैं, आत्मा-परमात्मा भाव का। भय प्रधान, भाव महान। भय, भव का खेल दिखलाता, भाव प्रभु से मिलाता तथा स्वभाव की ओर संकेत करता। प्रकृति भय, स्वभाव अभय।

धर्म, अवतार तथा प्रचार का विषय बना हुआ है, स्वधर्म की ओर लक्ष्य कहाँ ? गीता कहती है - 'स्वधर्मे निधर्म श्रेय:, परधर्मो भयावह:' पर का भाव भयावह है यह तथ्य है, किन्तु 'पर' प्रकृति की कृपा है, स्वभाव इन भावों से मुक्त। स्वधर्म चार वर्णों का धर्म नहीं - 'स्व' का धर्म, जहाँ वर्णों का वर्णन नहीं। वर्ण और व्यवस्था सीमित है और भाव असीम। भाव, अभाव मिटाता यह प्रारम्भ में ही कहा गया है। अभाव भव में, भय में।

विश्वास का अभाव भय और भव का कारण बन जाता है। विश्वास भी भाव ही है, अभाव नहीं। 'स्वभाव' विश्वास दिलाता नहीं, विश्वास ही है। विश्वास का रूप भी भिन्न-भिन्न धर्मों में भिन्न-भिन्न हैं। 'खुदा पर ईमान लाओ', 'मैं ईश्वर का पुत्र हूँ', "वेद ईश्वरोक्त हैं", 'बुद्ध की शरण में जाता हूँ,' ये सब विश्वास ही है।

'स्वभाव' विश्वास का विषय नहीं, अनुभूति है। अनुभूति तर्क-वितर्क के दलदल में कभी नहीं फँसी। यह कसौटी है, कस कर देखो, पता लगे कि प्रकृति क्या है, स्वभाव क्या है। कसना सभी को नहीं आता अत: जानकार से नम्र होकर पूछो, शायद इसकी जानकारी आ जाये।

युग की विशेषता है, प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक विषय का प्रत्यक्ष प्रमाण चाहता है। प्राणों का प्रमाण क्या ? हृदय का स्पन्दन ? यह तो स्थूल प्रमाण है। सूक्ष्म का प्रमाण नहीं होता, होती है अनुभूति।

अर्थदास स्वामी कब बना ? जब उसने अर्थ को अपना दास समझा। स्वामी शब्द का प्रयोग भी आज भ्रामक सिद्ध हो रहा है। गृहत्यागी स्वामी बन बैठा। स्वामी भाव से हो सकता है, गृहत्याग से नहीं। स्वामी कहलाना यह तो शब्द का व्यावहारिक प्रयोग है। सिद्ध करना, प्रमाण चाहना है, ये प्रकृति के खेल हैं, स्वभाव के नहीं। स्वभाव में सिद्ध, प्रमाण अनुभूति ही है। अनुभूति कहती नहीं, अलौकिक अवस्था बना देती है।

अवस्था यों तो उम्र को कहते हैं, दशा को कहते हैं, अब 'स्था' स्थावर हो जा, वर को पहिचान, स्वयंवर सजा, स्वयं 'स्व' को वर मान तो कर्म-धर्म का मर्म जाने नहीं तो प्रकृति तुझे नचाते नचाते थका डालेगी। हार जायेगा फिर भी चक्र से मुक्त न हो सकेगा। अभाव लोक ही ऐसा है, जहाँ बहुत कुछ पाकर भी, कुछ नहीं पाने का भाव ही बना रहेगा।

ये ग्रन्थ-ग्रन्थी बाँधने वाले हैं, ग्रन्थी खोलने वाले नहीं। बाहर की ग्रन्थी तो अन्य जन भी खोल देते हैं, किन्तु भीतर की ग्रन्थी तो विचारवान ही खोलने की विधि बतला सकेंगे, खोलना स्वयं को ही होगा।

सप्त लोक में 'स्व' को तीसरा लोक माना है, किन्तु जिस 'स्व' की यहाँ चर्चा की जा रही है, वह इस सप्तलोक से भिन्न है। 'स्व' लोक नहीं वह लोकों का स्रष्टा है, ऐसा कहना भी उचित नहीं जान पड़ता। 'स्व' सत्य है, महान है। 'स्व' सत्य से भी महान है। जिन्दगी गन्दगी नहीं, जिन्दगी बन्दगी है, बन्दगी के लिए। प्रकृति प्रलोभन है जीव के लिए, शोभन है शिव के लिए।

देवों की पूजा प्रलोभन के लिए, शिव स्वयं प्रलोभन नहीं शोभन है। प्रकृति अनन्त काल वासिनी की एक न चले। प्रकृति विरोधी तत्व नहीं, किन्तु स्वभाव को प्रकृति समझ बैठना न्यायसंगत नहीं। प्रकृति की कृपा प्रत्यक्ष, प्राणी आया और इसी में (प्रकृति में) रम रहा। स्वभाव में कृपा कैसी, 'स्व' में समाया।

विरोधी अपना प्रभाव विरोधी पर डाल नहीं सकता। वृत्तियां अनुकूल प्रभाव भी अनुकूल। प्रतिकूल भावनाएं प्रतिरोध ही उत्पन्न करती हैं।

'भय बिन होय न प्रीति'। भय में प्रीति का स्थान कहाँ? हाँ, प्रीति होने पर भी भय का भाव इस रूप में हो सकता है कि कहीं प्रेमी अप्रसन्न न हो जाये, किन्तु भय प्रीति का कारण हो सकता है यह साधारणतः कल्पनातीत है। भय है अभाव में, स्वभाव में नहीं। मनुष्य स्वयं से भयभीत उसी अवस्था में हो सकता है जबकि उसके विचार प्रतिद्वन्द्वी हों। मनुष्य को भय है कि कहीं मैं आवेश में आकर विरोधी की हत्या न कर डालूँ या कहीं आत्महत्या मुझसे न हो जाये। यह विचारों का युद्ध है जहाँ मनुष्य अपने को असहाय पाता है। यह सब प्रकृति की विकृति हैं, स्वभाव का यह कार्य नहीं।

प्रथम व्यक्ति स्वभाव से अनभिज्ञ है, उसके सम्मुख है प्रकृति तथा प्रकृति के खेल। खेल को भी वह खेल नहीं समझता। दण्ड या पुरस्कार समझता है। वह स्वभाव को समझता ही कब है? प्रकृति, स्वभाव का अन्तर बताने वाला, अर्न्तद्वन्द्व को समझाता तथा 'स्व' की ओर संकेत करता। विवेकी प्राणी ही स्वभाव को जान, प्रकृति को नमस्कार कर पाता है अन्यथा इस प्रकृति ने अनेक योगी, सन्यासियों को अपना शिष्य बनाया है। प्रकृति कवि को लुभाती, वियोगी को रुलाती, भोगी को आशा दिलाती, कर्मी को कर्म का पाठ पढ़ाती। बड़ी विचित्र है प्रकृति।

प्रकृति को माया कहना भी ठीक नहीं, जैसे स्वभाव को सत्य। सत्य काल्पनिक भी हो सकता है, किन्तु स्वभाव काल्पनिक नहीं। 'स्व' की अनुभूति यदि व्यक्ति को न हो सकी तो 'स्व' दोषी क्यों होने लगा? मायावाद की माया में आज भी व्यक्ति व्याकुल है। माया के उदाहरण बुद्धि प्रस्तुत करती है। बुद्धि और मन का संघर्ष भी दर्शनीय है। परिणाम में कभी बुद्धि विजयी कभी मन। मन की ही अधिक विजय होती है।

मन मोक्ष, बन्धन का कारण है। यह कहना ठीक है, किन्तु मोक्ष, बन्धन किसके लिए आवश्यक है? मन के लिये किन्तु मन को तो मारने के लिए कहा जाता है, यदि मन मर ही गया तो मोक्ष, बन्धन की आवश्यकता? विचित्र बात है, मरे हुए के लिए मोक्ष, बन्धन किस काम आये। कबीर ने सत्य ही कहा, 'माया मरी न मन मरा, मर मर गये शरीर'। जो मरता नहीं, उसे ज्ञानी-जन मारने की चेष्टा में लगे हैं। मन को मारना और कुत्ते की दुम को सीधी करना, दोनों ही व्यर्थ चेष्टा है।

मन को प्रसन्न करो, प्रभु प्रेम से, शरणागति से। वस्तु मन को प्रसन्न न कर सकेगी। मन चंचल बच्चे की तरह कुछ समय तक खिलौने से खेलेगा, पुनः व्याकुल हो उठेगा दूसरे खिलौने के लिए। ये ज्ञानमयी बातें कहीं गयीं, प्रकृति के विनोद का उल्लेख किया गया तथा 'स्व' की झलक भी कई स्थलों पर दृष्टिगत हुई। सत्य से महान 'स्व' है यह भी कहा गया, किन्तु प्रश्न किया जा सकता है कि सत्य से महान 'स्व' कैसे हो सकता है। आज तक सत्य को ही महान कहा गया है, यह 'स्व' कहाँ से टपक पड़ा? सत्य अवतारी को साधारण व्यक्ति से महान शक्ति प्रदान करता है, तभी न वह रावण तथा कंस जैसे महाबली का ध्वंस कर सका।

अवतारी से महान सत्य और सत्य से महान 'स्व' है। सत्य मान्यता है, 'स्व' मान्यता नहीं। सत्य की उपलब्धि के लिए ज्ञान, ध्यान, साधन की

आवश्यकता हैं, 'स्व' के लिए परिचय। परिचय हुआ, भ्रांति-निवारण हुआ। मान्यता अन्य की, की जाती है, जहाँ अन्य नहीं, वहाँ मान्यता कैसी ?

अन्य को भजो, मुक्ति प्राप्त होगी। यह कथन आज भी प्रचलित है। कुछ ऐसे भी हैं जो स्वयं को ब्रह्म घोषित करते हैं, किन्तु यह तो भाव मन और बुद्धि के हैं। 'स्व' के लिए परिचय ही यथेष्ट है। प्रश्न किया जा सकता है कि परिचय भी मन, बुद्धि के द्वारा ही तो होगा। मन, बुद्धि, अनुभूति नहीं। जहाँ अनुभूति है, वहां मन, बुद्धि का स्थान कहाँ? मन मनन करेगा, बुद्धि निर्णय करेगी, यहीं तक इनकी गति है। 'स्व' निर्णय नहीं चाहता, मन का विषय नहीं, अनुभूति ही आनन्दमयी हो जायेगी।

'स्व' को आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, सत्य कहना भी है 'स्व' को सीमित करना है। सृष्टि प्रलय आज हो या कल, 'स्व' का प्रलय नहीं। 'स्व' में सभी मान्यताएं, सभी भाव लय हो जाते हैं, प्रलय कैसी ? सत्य का दर्शन दुर्लभ, 'स्व' में समाया सत्य तथा विश्व।

मान्यता को प्रधानता प्रकृति का उपासक देता है, इसीलिए न किसी को अपने से महान और न किसी को क्षुद्र मानता है अन्यथा कौन क्षुद्र कौन महान मान्यता ही प्रधान। 'स्व' का भाव नवीन नहीं, किन्तु इसकी चर्चा आज नवीन। सत्य तक मनुष्य का अनुभव पहुँचा इसके पश्चात भी कुछ है उसकी न खोज की, न अनुभव किया।

सर्प, वृक्ष की पूजा करने वाला मनुष्य सत्य तक कल्पना कर अनुभव कर सका यह प्रगति भी कुछ कम नहीं। अनुभूति की सीमा नहीं। उदर पूर्ति ही आज मनुष्य के लिए कठिन समस्या बनी हुई है, वह सत्य से परे की जानकारी के लिए क्यों बेचैन होने लगा? अज्ञात शक्ति के कार्य भी

अज्ञात, जिन्हें अज्ञ क्या विज्ञ भी जान नहीं पाता। जीवन के कुछ महत्वपूर्ण क्षण होते हैं। ऐसे ही क्षणों में जिज्ञासु की उत्कट अभिलाषा पूर्ण होती है।

पत्थर में अग्नि थी, किन्तु आदिम प्राणी अनभिज्ञ था। दो पत्थरों की रगड़ ने अग्नि को प्रत्यक्ष किया। आज उन पत्थरों की रगड़ की भी आवश्यकता न रही। जल में भी अग्नि है, उसे मनुष्य ने जाना। 'स्व' का परिचय भी कुछ ऐसा ही है।

प्रकृति तथा विश्वास के विश्लेषण ने जिज्ञासा उत्पन्न की अज्ञात शक्ति की कृपा ने 'स्व' का रहस्योद्घाटन किया। विज्ञजन इस अनुभूति पर हंसेंगे, कुछ तीव्र विरोध भी करें तो कोई आश्चर्य नहीं। करें, भय कैसा? प्रारम्भ में ऐसा ही हुआ करता है। तर्क का विषय नहीं, परिचय तथा अनुभूति ही 'स्व' का यथार्थ ज्ञान करवा सकेगी। 'स्व' भाव ऐसा चमत्कार दिखला सकता है, इसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता है। विचित्र है प्रकृति और स्वभाव तो 'स्व' का भाव है, जहाँ प्रकृति विवश हो जाती है 'स्व' की कल्पना के लिए।

ऋषि मुनियों ने साधना का मार्ग प्रशस्त किया तथा यह कहने में भी संकुचित नहीं हुए कि नेति नेति।

यह वाणी ही प्राणी को प्रोत्साहित करती है नवीन अनुसन्धान के लिए। विज्ञानवेत्ता अपने नवीन अनुभव को आविष्कार कहता है मर्म जिज्ञासु अनुसन्धान। था नहीं वह आया कहाँ से? कहना इतना उचित है कि था, किन्तु परिचय न था, जानकारी न थी। जानकारी निर्भय बनाती है। अभय जन्मजात, निर्भय परिचय पश्चात। प्रकृति निर्भय होने नहीं देती, स्वभाव अभय का है। सत्य से 'स्व' महान वहाँ अभय ही अभय। जानकारी अभय का

भाव देती है। हिंसक प्राणी की जानकारी है, फिर भी मनुष्य उनसे अभय नहीं हो पाता, यह कथन भी उचित है, किन्तु यहाँ जिस जानकारी की बात कही गयी है वह जानकारी साधारण जानकारी से भिन्न है। इस जानकारी की विशेषता यह है कि हिंसक प्राणी भी ऐसे जानकार के समीप आकर अपनी प्रकृति भूल 'स्व' से प्रभावित हो जाते हैं।

आधुनिक काल में भी कुछ महापुरुष हुए हैं और हैं जहां हिंसक जन्तु अपनी प्रकृति भूल साम्यभाव में आ गये। साम्यभाव में हिंसा कहाँ, प्रेम ही प्रेम जगमगाता है। जग में गाता है, रोता है, कौन ? गाता है वह जो स्वभाव को जानता है और रोता है वह जो प्रकृति के चक्कर में पड़ा है।

दूध के ग्राहक अल्प, मांस के अत्यधिक। दूध से ही मनुष्य यदि संतुष्ट हो जाता, तो मांसाहार की आवश्यकता ही नहीं होती। 'स्व' भाव ही मनुष्य जान पाता तो प्रकृति का प्राणी शिकार ही न बनता। आज प्रकृति ने स्वभाव पर विजय प्राप्त कर रखी है। सौभाग्य दिवस भी उदय होगा जब मनुष्य प्रकृति और स्वभाव का अन्तर समझ स्वभाव की जानकारी जानकार से प्राप्त करेगा। 'स्व' स्वयं का भाव है, सत्य मान्यता है। मान्यता और जानकारी में यही अन्तर है कि मान्यता भिन्न की की जाती है, अभिन्न की नहीं। भाव है, स्वभाव से जानकारी नहीं। अतः मनुष्य मान्यता को प्रधानता देता रहा है। जब देव प्रतिमाओं का विधर्मियों के द्वारा ध्वंस होने लगा तो सन्तों ने ऐसा मार्ग बतलाया कि जहाँ मन ही मन्दिर था, प्रीति ही प्रतिमा थी जिसे ध्वंस करना असम्भव था। ये भी प्रकृति के ही खेल थे। स्वभाव में न मन्दिर, न मस्जिद, न गिर्जा, न बिहार, न प्रहार, न संहार, न आचार, न विचार। केवल भाव, वह भी 'स्व' का, किन्तु जानकारी आवश्यक।

★★★★★

अनामी का नाम

शब्द हैं संज्ञा है। संज्ञा के द्वारा वस्तु तथा प्राणी का बोध है। बोध जिज्ञासु के लिए, शब्द विश्व के लिए। विश्व शब्दों का भण्डार, प्राणों में शब्दों की झंकार। झंकार में सूक्ष्म पुकार। पुकार संस्कार, विचार। विचार मन में आकार, प्रकार। आकार सूक्ष्म स्थूल, प्रकार नाना विधि का प्रचार। प्रचार में संलग्न संसार। संसार में सार असार। सार भी शब्द असार भी शब्द। शब्दातीत अनामी, परिचय चाहता है प्राणी।

परिचय के लिए नाम। अनामी का नाम ? नाम न रखता तो अन्य को उसका ज्ञान कैसे होता ? नाम से ही क्या ज्ञान हो जाता है ? नाम स्थूल का रूप रंग, गुण स्वभाव का परिचय देता है तथा सूक्ष्म का संकेत। अनामी का न रूप, न रंग, न स्वभाव। फिर भी प्राणी उसे सर्वगुण दाता, कर्ता विधाता कह कर पुकारता है। नाम के बिना उसके प्राणों को शांति कहाँ ऐसा देखा जाता है।

देखता है और जा रहा है, कुछ पाता है और कुछ खो रहा है। कभी हँसता है, कभी रो रहा है। कुछ करता है, कुछ हो रहा है। प्राणी जा रहा है, प्राण जा रहे हैं, किन्तु अनामी का नाम ? (नाम) कुछ ले रहे हैं, कुछ अब भी शंका तथा तर्क कर रहे हैं। अनामी है अत: ऐसा होना ही था, होना ही है।

अनामी को किसी ने प्रकृति कहा, किसी ने पुरुष, किसी ने जीव कहा (अवतारी को) किसी ने शिव, किसी ने रूप में देखा, किसी ने भाव में, किसी ने साकार कहा, किसी ने निराकार, किसी ने आदि कहा, किसी ने अन्त (प्रलय के रूप में), किसी ने जड़ कहा, किसी ने चेतन, किन्तु अनामी

अनामी है। उसके अनेक नाम उसका एक भी नाम नहीं। उसका रूप सब में फिर भी वह अरूपी है। उसका कार्य सब में, फिर भी वह अकर्ता है।

नाम उसके अनेक, काम उसके अनेक, वह अनेकों में एक, नेक बद में वह एक, प्राणी वाणी में एक, स्थल नभ में एक, धारा प्रवाह में एक, वह एक किन्तु अनामी है।

नामी प्रसिद्ध, अनामी सिद्ध। था तो अनामी किन्तु नामधारियों ने उसके अनेक नाम रखे। नाम रखते रखते जब प्राणी थक गये तो उन्होंने उसका नाम लेकर पुकारा और कहा 'जो उसका नाम लेता है उसका नाम होता है।' नाम की भक्ति शक्ति बढ़ती ही गयी। जीवन काल में यदि प्राणी उसका नाम ले न पाये तो अन्तिम समय में नाम लेने वाला भी पुण्यात्मा कहलाया। भक्तों ने कहा, 'नाम सुमर सुख पायेगा'। नाम में ही सुख पाने वाले अनेक हैं। 'काम तेरा नाम मेरा' - भक्त कहता है, भक्त का भगवान भी यही कहता है। अनामी हँसता है, कहता है 'मैं अनामी तू भी अनामी हो जा'। प्राणी नाम (प्रसिद्धि) का दीवाना, नाम के लिए। भक्ति-भाव तीर्थाटन करने वाला अनामी की बात पर क्यों ध्यान देने लगा। नाम, काम और धाम ही उसका राम (आराध्य देव)।

यह नाम है या ज्ञान का नाम जिन्होंने अद्वैताद्वैत का विवाद उपस्थित कर मत-मतान्तर का द्वन्द्व फैलाया। अनामी के नाम को द्वन्द्व का रूप दिया। शरीर को क्लेश देकर मन के क्लेश को शान्त करना चाहा। तलवार का वार कर तथाकथित धर्म का प्रचार किया। गृह त्याग कर बन बन भटकना प्रारम्भ किया, शूली पर चढ़ा कर शान्त होना चाहा। यह नाम है, अभिमान है, जिसे धर्म का नाम देकर मनमानी करना चाहा।

धर्म शान्ति देता है या उदभ्रांति, कलह देता है या सुलह? समझ की आवश्यकता है। अनामी के नाम पर यह कैसा कार्य? ये आर्य हैं या अनार्य, जिन्होंने ऐसे कार्य किये और करते आ रहे हैं। इनकी पुस्तकें ज्ञान की भण्डार हैं या अज्ञान की, यही जानें। अनामी के नाम पर उसके बच्चों का हनन, न किया मनन, करने लगे हनन और कहा शमन। जब दमन हुआ शमन, होने लगा हनन, मन का, तन का। अनामी - यह कैसा अत्याचार है, जिसे अति आचार विचार वाले करते आये और कर रहे हैं। यह नाम है अभिमान है जिसे श्रीमान, धीमान कर रहे हैं धर्म कर्म के नाम पर।

अनामी यदि नाम का अभिलाषी होता तो अनामी शब्द अर्थ रहित होता। नाम के इच्छुक वे जो मरते हैं जन्म लेते हैं। अनामी अमर। धरा ने धारण किये प्राण - प्राणी उसे निष्प्राण क्यों कहने लगे? अनामी ने उन्हें दिया ज्ञान तो उसके अनेक नाम क्यों पुकारने लगे? विपरीत धारणा ने द्वन्द्व की सृष्टि की सम्मुख को ही व्यक्ति विमुख समझ बैठे तो द्वन्द्व तो होगा ही। सम्मुख स्थूल विमुख सूक्ष्म। स्थूल प्रधान, सूक्ष्म महान। महान की उपेक्षा, प्रधान की अपेक्षा। प्रधान (स्थूल) स्थूल शरीर के लिए, महान, सूक्ष्म शरीर के लिए (जिसे मन कहा जाता है)। प्रधान नाम, नामधारियों के लिए, महान अनामी अनामियों के लिए।

ये अनामी कौन? जो नामाभिलाषी नहीं। नाम न चाहने वालों का भी नाम (प्रसिद्धि) होता है। अनामी का भी नाम रखते ही आये हैं ये नामधारी प्राणी। सूक्ष्म विमुख कैसे? सूक्ष्म यों ही प्रत्यक्ष नहीं होता, जब तक कि स्थूल को विमुख न किया जाये। बाहरी आँखें स्थूल द्रष्टा, भीतरी आँखें सूक्ष्म। विमुख यदि सम्मुख होता तो द्वन्द्व ही न होता। स्थूल की इच्छा ने सूक्ष्म को विमुख बना रखा है। इसीलिए न सूक्ष्म को विमुख कहा गया अन्यथा सम्मुख-विमुख, सुख-दु:ख, पुण्य-पाप है कहाँ?

नाम है धारणाओं का जिनके लिए नामधारी प्राणी व्याकुल है। अनामी (प्राणी) इस द्वन्द्व से दूर। अनामी का नाम लेकर भी यदि मन शान्त न हुआ तो कहना होगा कि मन से नाम न लिया। मन ही नहीं शांत तो विकलता चारों दिशाओं में फैली हुई प्रतीत होगी ही। मन शान्त किसका हुआ। जिसने अनामी के नाम पर विश्वास किया। विश्वास का अभाव ही मन को व्याकुल कर देता है। विश्व सम्मुख, विश्वास? जहाँ विश्वास, वहाँ व्याकुलता अति अल्प। विश्वास कैसे करें, अनामी प्रत्यक्ष कहाँ? विज्ञान की सहायता से निर्मित वस्तुएं भी पहले प्रत्यक्ष नहीं थीं। महान प्रयास प्रत्यक्ष दर्शन में सहायक हुआ। अज्ञात शक्ति प्रत्यक्ष हुई। वैसा ही प्रयास यदि आज भी व्यक्ति अनामी की प्राप्ति के लिए करे तो वह वैसा ही प्रत्यक्ष हो सकता है जैसे कि अज्ञात शक्ति होती है। किन्तु उन बातों पर विश्वास कहाँ? न प्रत्यक्ष दर्शन की आवश्यकता है उसे और न विश्वास की। परिणाम प्रत्यक्ष विफलता में।

प्रत्यक्ष का रहस्य भी अनोखा है। आँखों से जिसे देख पाये उसे ही वह प्रत्यक्ष कहता है। प्रत्यक्ष का रूप प्रथम विचारों में आता है और वही विचार जब आकार धारण करता है तो उसे प्रत्यक्ष मानता है। किन्तु यह क्यों नहीं समझता तथा मानता कि विचार ही प्रत्यक्ष के जनक हैं। जड़ चेतन का भी यही रहस्य है। प्राण सुप्त जड़, प्राणों का स्पन्दन चेतन। चते न करे तो कैसा चेतन।

तन ही प्रधान फिर मन की कैसी अवस्था होगी यह भी विचारणीय है। मन जब मनन में लगा तो तन की सुधि भूल बैठता है प्राणी। किन्तु जड़ की प्राप्ति के लिए आज चेतन बड़ा बेचैन है। अनामी नहीं उसे तो नाम चाहिए। नाम रख कर तो उसने अनामी को बदनाम किया किन्तु अनामी नेक, बद से बहुत दूर। वस्त्र साफ थे मैले तो मैल वालों ने कर दिये। वायु प्राणदायिनी थी और है रोग के किटाणुओं ने इसे दूषित कर रखा है। कटु

भावना ने मानव को दानव बनाया अन्यथा सृष्टि की सर्वोत्तम कृति मानव है। नाम (प्रसिद्धि) मनुष्य के हृदय की कली को खिला देता है। इसमें वह अमरता का अनुभव करता है, समझता है कि कुछ ऐसा काम करूँ कि युगों तक लोग मुझे याद करें किन्तु यह उसकी भ्रांति है। चाहना तो पाना नहीं। चाह और वाह वाह का भूखा मनुष्य यह क्यों नहीं समझता कि अनामी का नाम भी अति अल्प मनुष्य लेते हैं फिर उसी का नाम चिरस्मरणीय रहेगा यह कैसे सम्भव हो सकता है। यदि नाम की इतनी उत्कट अभिलाषा है तो उस अनामी का नाम ले, जिससे नामी अनामी दोनों ही चिरस्मरणीय हो जायें।

किन्तु यह भी उचित नहीं जान पड़ता। कारण स्पष्ट है, नाम के लिए (प्रसिद्धि) नाम लेना, नाम की महिमा को कलुषित करना है।

छोटा-सा बीज महा उपदेशक है, अपनी हस्ती और मस्ती मिटाकर, अंकुर को जन्म दिया, पल्लवों ने प्राणों को हर्षित किया, फूल और फल को देखकर पुलकित हुआ, स्वयं जड़ (मूल) का रूप धारण कर जीवन सार्थक किया। प्यार ने उसे जड़ बना दिया। अनामी के नाम के लिए जब मनुष्य प्यार में जड़वत हो जाता है, उसकी अवस्था भी उसी बीज की तरह हो जाती है। हस्ती मिटी, मस्ती गयी अब मस्त हुआ अनामी के नाम में, प्रेम का अंकुर जमा, पल-पल में पुलकित हुआ, प्रेम पल्लव, आनन्द फल फूल में परिवर्तित हुआ। जड़ ने चेतन को उपदेश दिया, चेतन ने 'स्व' देश देखा, जीवन सार्थक हुआ। ये हैं जड़ और चेतन के कार्य जहाँ जीवन की सार्थकता है विकलता नहीं।

नाम इनाम के लिए (लेता है) कहता है यह मेरा ईमान है। ईमान होता तो इनाम के लिए नाम न लेता। विचित्र है यह संसार जहाँ असार को सार मानने वाले ही अधिक हैं। धन की आवश्यकता है, तो साधन की भी है।

धन इस लोक का धन, साधन, 'स्व' देश का। साधन जरिया कहलाने लगा जर (धन) प्राप्ति के लिए, शब्द (साधन) जर्जरित हो गया। अनामी नारायण, पर विश्वास नहीं, विश्वास लक्ष्मी पर है। चंचला स्थिर रहेगी, यह भ्रम ही तो है। दासी सहायक होगी, स्वामी के बल पर। स्वामी की आज्ञा, दासी का कर्तव्य, किन्तु फिर भी दासी के प्रार्थी अनेक और स्वामी के अनेकों में एक।

यह भी विचित्र खेल है। दासी ने दी उदासी (धन की रक्षा के लिए) स्वामी ने बनाया निष्कामी आनन्द के लिए अनामी के नाम अनेक तो काम भी अनेक। अनामी के नाम पर भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों ने जो कार्य किये तथा कर रहे हैं, वे सर्वविदित हैं। धर्म और अनामी उपहासास्पद न थे, न हैं। रीति-रिवाज न धर्म थे न हैं। इन्हीं को धर्म मानने वाला व्यक्ति सदा भ्रम में ही रहा तथा रहेगा। अनामी मान्यता का इच्छुक नहीं। मान्यता बदलती रहती है अनामी चिर शाश्वत है। परिवर्तन विनाशी का अविनाशी अनामी।

धर्म परिवर्तन कैसा? मानव कृत धर्म ने ही कहीं पशु बल, कहीं बुद्धि बल से मनुष्यों को संत्रस्त किया। प्राकृत धर्म में परिवर्तन कैसा? युगों का विभाजन मनुष्य करता आया तथा जिस युग में वह धरा नाम पर आया उसे निकृष्ट कहता आया। युग धर्म की विशिष्टिता की कटु आलोचना में ही वह लगा रहा। जिस कलियुग की वह निन्दा कर रहा है, क्या इस युग में संत नहीं आये, अनामी के प्यारे नहीं आये? किन्तु कटु आलोचक को शांति कहाँ? उसने उन संतो को भी पाखंडी कहा। अनामी के प्यारों ने उनकी निन्दा की, कब परवाह की? दिल बदला, दुनिया बदली, निन्दा स्तुति में बदली, किन्तु अनामी न बदला, संत न बदले। श्रद्धेय को अनामी कहना अक्षम्य है, किन्तु उसके भी कारण हैं। उसके पवित्र नाम पर बाद-विवाद, उसके नाम पर नर संहार करना और उसे धर्म कहना शर्म की बात है। मानव-मानव में यह विभेद क्यों? यह कैसी सभ्यता है, कैसी संस्कृति है,

जहाँ स्वार्थ और अभिमान पर ऐसे कुकृत्य किये जाते हैं और धर्म का नाम लिया जाता है? संत, देश-विदेश के नहीं होते उनका हृदय धरा तथा नभ की तरह विशाल होता है, जल की तरह शीतल, वायु की तरह प्राणदायक तथा अग्नि की तरह प्रेरक होता है।

ऐसे सन्तों के निन्दक भी अनेक। ये (सन्त) उनके (धर्माभिमानियों) स्वार्थ प्राप्ति में बाधक प्रतीत होते हैं, किन्तु संत ही यदि बाधक तो साधक कौन होगा? स्वार्थपरता संतों में भी अवगुण देखती है। गुण, अवगुण की चर्चा करना 'अनामी का नाम' लेख का विषय नहीं, वस्तु स्थिति का अवलोकन कर, लक्ष्य की ओर अग्रसर होने की आवश्यकता है।

अग्रसर यों ही व्यक्ति नहीं हो पाता, अग्र (आगे) सर (मस्तक) रखना अर्थात शरणागति, प्रभु की या प्रकृति की, यह व्यक्ति स्वयं निर्णय करें। प्रकृति यदि सुख वृद्धि करती है तो त्रस्त भी। प्रभु तो आनन्ददाता है तथा सुख दुख के द्वन्द्व से बचाता है। प्रभु है कहाँ? उत्तर है, कभी खोजने का प्रयास भी किया? यदि नहीं, तो 'है कहाँ', यह प्रश्न ही निरर्थक है। प्यासा कुआँ खोदता है, अभागा भाग्य खोजता है। जल नीचे, जल ऊपर, भाग्य नीचे, भाग्य ऊपर। यही बात प्रभु की, प्रकृति की। खोजने वाला मिट्टी में भी सोना खोज लेता है, भक्त भी मिट्टी में भगवान खोज लेता है। आज मिट्टी में भगवान को मिलाने वाले अनेक हैं, मिट्टी में भगवान को खोजने वाले अति अल्प।

देव मूर्तियाँ भी तो मिट्टी पत्थर की बनी हुई हैं, इनकी पूजा होती है, भोग लगता है, क्या ये (तथाकथित भक्त) अनामी को नहीं खोजते? क्या खोजते हैं इसका उत्तर अति सरल, अति कठिन। सरल यों कि यह तो कर्मकाण्ड है अनामी की भक्ति अति खोज का काम है। अनामी को प्रभु क्यों

कहा गया, भगवान क्यों ? उत्तर है कुछ नाम न लिया जाता, तो उसकी ओर संकेत कैसे किया जाता ? धर्माभिमानियों ने उसके नाम रखे, स्वार्थवश, यहाँ सम्बोधित किया गया संकेत हेतु। नाम सेतु है (अनामी के लोक के लिए) काम हेतु नहीं। नाम (अनामी का) तो प्राण प्रिय है। नाम अमूर्त की मूर्ति बनाता, प्राणों में आनन्द की झंकार झंकृत करता, हृदय के झूले में प्रभु को झुलाता, रोम-रोम में हर्ष की हिलोरें उठाता, जीव को शिव का बोध कराता, लोक-परलोक को एकाकार करता, जन-जन में प्रीति वर्षण करता, विकारों को अविकारी को समर्पित करता, इस नाम की महिमा अवर्णनीय है। लेखनी कागज पर, किन्तु नाम, हृदय पर वह लेख लिखता है, जो अमिट है, अमर है।

★★★★★

भव में अभाव

सृष्टि का प्रारम्भ कब हुआ, कैसे हुआ, क्यों हुआ? प्रश्न जटिल है। भिन्न-भिन्न मतावलम्बियों के उत्तर भी भिन्न हैं। भिन्न में भी कहीं-कहीं एकता है। एकता है मान्यता में। मान्यता, **कल्पना तथा विश्वास पर** आधारित। विश्वास मान्यता पर, कल्पना मुक्त। **मान्यता, विश्वास और कल्पना ही सृष्टि।** सृष्टि के प्राणी आज भी कल्पना के झूले में झूल रहे हैं कैसा उत्थान कैसा पतन, यह तो झूले की पैंग है।

प्रत्येक धर्म, प्रत्येक जाति ने भले बुरे दिन देखे, अत्याचार किया, अत्याचार सहे, यही तो इनका इतिहास है। अपनी मान्यताओं को प्रधानता दी, विरोध सहा नहीं, विरोध किया। यही क्रम चला आ रहा है। विषमता विचारों में, विषमता कार्यों में। विषमता विष बनी, हृदय मीठे जहर का शिकार बना। जातियाँ बिलीन हुई। जातियाँ नवीन हुई।

सृष्टि रचना तथा विकास का इतिहास सबका अपना अपना था। सभ्यता का मापदण्ड भी भिन्न। प्रकृति की गति देखकर भी मनुष्य कुछ समझ न सका, पूर्व पश्चिम दिशाओं में रहने वाले मनुष्य एक दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखने लगे, उत्तर दक्षिण वालों की अवस्था भी वैसी ही थी। गोल पृथ्वी के निवासी माल के लिए गोलमाल करने लगे। यह गोलमाल आज भी ज्यों की त्यों हैं। यह गोलमाल क्यों है? सभी तो अभाव ग्रसित हैं। भव में अभाव कैसा? असन्तुष्ट प्रकृति अभाव की जननी? स्थूल प्रकृति ने इन्हें अनेक पदार्थ दिये। पदार्थ पाकर भी इन्हें संतोष कब हुआ? पाशविक शक्ति बढ़ने लगी, दुर्बलों को दलित करने के अनेक साधन जुटाने लगे। युद्ध हुए, लक्ष-लक्ष मनुष्यों का विनाश हुआ, इसी को इन्होंने अपना विकास समझा।

विनाश हुआ विकास, अब कहाँ प्रकाश, कहाँ अवकाश? अभाव किसी को अवकाश ग्रहण नहीं करने देता। अभाव की प्रज्ज्वलित अग्नि सुख, शान्ति को जलाकर राख करने में लगी है। प्राप्त में यदि सुख अनुभव न किया तो अभाव की अग्नि जलती ही रहेगी।

अभाव का भाव कब उत्पन्न हुआ? प्राणी गर्भस्थ हुआ, अभाव प्रारम्भ हुआ। भूमिष्ठ होते ही वह चिल्ला उठा। उसे क्या नहीं चाहिए? वायु, जल, खाद्य उसकी प्रथम आवश्यकता थी। उम्र ज्यों ज्यों बढ़ती गयी आवश्यकताएं अति मात्रा में बढ़ती गयीं। आवश्यकताओं का कहीं अन्त न था, अभाव का भी।

ये तो हुई स्थूल प्रकृति की बातें, अब सूक्ष्म प्रकृति की बातें और भी जटिल हैं। स्थूल और सूक्ष्म की गति में बड़ा अन्तर है। स्थूल की गति सीमित, सूक्ष्म की असीम। सूक्ष्म ने स्थूल पर सदा विजय पायी है जैसे मनुष्य ने पशु पर। जब जब पाशविक शक्ति बढ़ी सूक्ष्म गतिवाला कोई महान व्यक्ति आया और उसने अपने विचारों से, शक्ति से उसका (पाशविक शक्ति का) दमन किया। ऐसे व्यक्तियों को साधारण जनों ने अवतारी माना। ये अवतारी भी इन्हीं व्यक्तियों में से थे। अवतारियों की सूक्ष्म दृष्टि तथा सूक्ष्म गति ने साधारण जनों पर विजय पाई। आज भी ऐसे ही व्यक्ति क्षणिक शान्ति स्थापना में सफल हुए हैं, किन्तु ये अवतारियों की गणना में नहीं आ सकते।

'अभाव हुआ स्वभाव' अब भय में सर्वत्र अभाव ही अभाव दिखलाई देने लगा। हालत (अवस्था) बुरी नहीं किन्तु लत (दुर्व्यसन) पड़ गयी है निरर्थक चर्चा की, अभाव की। भव क्या करे, भगवान क्या करे। मुख में ग्रास, हाथ में ग्रास, सम्मुख भोजन परिपूर्ण थाल फिर भी मनुष्य हो रहा बेहाल। भव, अभाव के लिए न था और न है, किन्तु अभाव ने भव को अभाव

पूर्ण बना रखा है। जठराग्नि अल्प समय के लिए यदि शान्त भी हो जाती है, हृदय की अग्नि, अभाव की अग्नि प्रज्वलित ही रहती है।

अभाव एक ओर उन्नति का कारण बनता है तो दूसरी ओर व्याकुलता का। अभाव प्राप्ति के लिए सचेष्ट बनाता है, किन्तु प्राप्ति के पश्चात भी वह शान्त नहीं होता। अवस्था ऐसी हो जाती है कि मानसिक व्यवस्था का संतुलन ही बिगड़ जाता है।

दोषी कौन? भव या अभाव? भव वह क्षेत्र है जहाँ सफलता, विफलता दोनों ही वक्र गति से नृत्य करती रहती हैं। जयमाला के अधिकारी वे ही व्यक्ति होते हैं जो अधिकार नहीं चाहते, विकार नहीं चाहते, चाहते हैं शान्ति, प्रेम। अभाव की अग्नि के उपासक आस-पास निराशा, अशान्ति फैलाते नजर आते हैं। शान्त व्यक्ति को देख ये (उपासक) अशान्त हो जाते हैं। इनके अशान्त विचार दूषित कीटाणुओं का कार्य करते हैं। अतः अभाव रोग भव में सर्वत्र व्याप्त-सा प्रतीत होता है।

भव में अभाव वाले ही नहीं, भाव वाले भी वास करते हैं। इनकी संख्या अति अल्प है। अल्प है इसीलिए ये भावुक दृष्टिगोचर नहीं होते। भावुक शब्द उन व्यक्तियों के लिए आज प्रयोग किया जा रहा है जो सहनशक्ति के अभाव में उत्तेजित हो जाते हैं, काल्पनिक साम्राज्य में विचरण करते तथा कल्पना को सत्य कह प्रचार करते हैं। यों तो यह विश्व कल्पना का भण्डार है, किन्तु कल्पना की पृष्ठभूमि सत्य पर आधारित होनी चाहिए। सत्यानुभूति कल्पना को भी कल्पना नहीं रहने देती, किन्तु अनुभूति हीन व्यक्ति यदि कल्पना को सत्य कह कर प्रचारित करता है तो भ्रान्ति ही प्रसारित होती है। ऐसे भावुक व्यक्ति लेखक हों या कवि तथ्य का भ्रमात्मक

रूप ही विश्व के सम्मुख रखते हैं। इनकी आलोचना करना ध्येय नहीं है, भावुक शब्द का दुरुपयोग किया जा रहा है उस ओर संकेत करना है।

भावुक कल्पना का पुजारी नहीं, सत्य ही उसका प्राणाधार है। सत्य काल्पनिक नहीं, सत्य के लिए कल्पना करने वाले अनेक हैं। मिट्टी से उत्पन्न होता है यह शरीर, आत्मा तो परमात्मा का ही रूप है। जो मिट्टी से पैदा हुआ वह मिट्टी में ही दफनाया जाता है या उस पर जलाया जाता है, किन्तु आत्मा का विनाशक कौन? धर्म वाले आत्मा, परमात्मा माने चाहे न माने, यह उनकी मान्यता पर निर्धारित है, किन्तु आत्मा का विनाश नहीं होता, यह ध्रुव सत्य है।

यह भी मान्यता ही है। मान्यता और विश्वास विवाद के विषय बनते हैं, इनका कहीं अन्त नहीं। बुद्धि और मन का संघर्ष चला आ रहा है। यह भी क्षम्य होता यदि यह धर्म विशेष के कतिपय व्यक्तियों तक ही सीमित रहता। किन्तु ऐसा होता कहाँ हैं, पाशविक बल का जातियों ने प्रबल प्रयोग किया और अब भी संलग्न है। इसे विवेक का अभाव कहना उचित जान पड़ता है। एकता का अभाव, मान्यता का अभाव, सद्भावना का अभाव, प्रेम, शान्ति के अभाव ने भव को अभाव सागर बना रखा है। यह तो जगत की स्थिती है। परिवर्तन तभी सम्भव हो सकता है जब कि भाव की विशेषता व्यक्ति समझे। कल्पना नहीं है, यथार्थ है जब व्यक्ति भाव लोक में प्रवेश करता है तो भव का अभाव भव में ही रह जाता है। अभाव उसे संत्रस्त नहीं कर पाता। यह मान्यता नहीं, विश्वास नहीं, भाव की अनुभूति है, जिसे अमान्य नहीं किया जा सकता।

भाव का प्रचार तथा प्रसार महाभाव सम्पन्न व्यक्ति के द्वारा ही सम्भव होता है। ऐसे व्यक्तियों का आगमन धराधाम पर यदा कदा होता है। वे

अपनी साधना द्वारा भव के अभाव की पूर्ति करते हैं तथा उनकी वाणी तथा भाव के पुजारी यथाशक्ति प्रचार भी करते हैं। यह प्रचार भी अल्प समय के लिए होता है फिर तो 'लकीर के फकीर' आते हैं और अभाव की गति ज्यों की त्यों बनी रहती है।

अभाव सृष्टि का यह क्रम चला आ रहा है। गति अवरोध कौन करे? इस अभाव की गति को प्रगति कहा जाता है। यह प्रगति किस ओर है? अभाव की ओर या भाव की ओर? प्रश्न का उत्तर अति सरल है अभाव की प्रगति अभाव बढ़ाती है भाव नहीं। अभाव का बोलबाला है भाव किसे चाहिए। भाव वाले भाव सागर में स्नान कर भवसागर पार करते तथा अन्य जनों को अपनी वाणी तथा कार्यों से आनन्द देते हुए आनन्द धाम की ओर गमन करते हैं। अन्य जन रमण करते हैं अभाव में। संसार का महा पार्थिव धन भी उन्हें संतोष नहीं दे पाता।

अभाव, अभाव की ही सृष्टि करता है। तुष्टि, भाव की पुष्टि में, अभाव कब सहायक हुआ? भव तो उद्यान था और है, किन्तु उद्यान के अनुपम पुष्पों का सौरभ जिन्हें प्रमुदित न कर पाया तो माली का क्या दोष? पुष्पों की चर्चा नहीं, यहां तो पद पद पर काँटे ही उन्हें दिखाई दे रहे हैं। पुष्प प्रभु के चरणों पर समर्पित, काँटे अन्य जनों के लिए हैं यह तो न्याय संगत नहीं। बात ऐसी नहीं है, भाव पुष्प, अभाव काँटे, उद्यान में हैं। न उद्यान का दोष है न काँटों का। काँटे चुभते हैं फिर भी मनुष्य काँटों को पकड़ता है ऐसी अवस्था में दोषी कौन?, काँटे, उद्यान या मनुष्य।

भव में भाव भी अभाव भी। अभाव की वृद्धि को मनुष्य यदि प्रगति कहे तथा माने तो सन्तोष, शान्ति का दर्शन दुर्लभ। अभाव मन की दुर्गति का कारण बन जाता है। भाव वाले पागल कहलाते, बुद्धिहीन कहलाते, किन्तु

सच्ची शान्ति ये पागल ही देते हैं। अभाव भी एक भाव है। अभाव भव में व्याप्त, भाव कहीं-कहीं दिखलाई पड़ता है। भावुक कहलाने वाले भी व्यक्ति हैं जिन्हें कल्पना प्रिय है। अभाव वाले व्यक्तियों से इनकी प्रकृति भिन्न होती है। यथार्थता इनकी पहुँच के परे है।

वह भी युग था जब कि अनुभव प्राप्ति के लिए राजा भी ऋषियों की सेवा में उपस्थित होते थे तथा उनके अनुभव से लाभ उठाते थे। आधुनिक काल की विशेषता है परीक्षक के रूप में प्रश्न करते हैं, अनुभवपूर्ण तो वे हैं हीं। ऐसे व्यक्ति यदि अभाव ग्रसित न हों तो कौन होगा? वासना, विलासिता, लालसा, ईर्ष्या आदि, अभाव वृद्धि के सहायक हैं। पूर्ण स्त्रष्टा, पूर्ण सृष्टि फिर अभाव आया कहाँ से? व्यक्ति जैसे ही संसार में आया उसने अपने मनोविकार के कारण अभाव ही अभाव देखा। भव का दोष या व्यक्ति का? व्यक्ति यदि सृष्टिकर्ता को व्यक्त करता तो भाव में रहता, भव उसके लिए उद्यान होता। धनवान, विद्वान, रूपवान सभी तो अभाव की चर्चा में लगे हैं।

महात्मा भी यदि अभाव के वार्तालाप में लीन तब तो यह भव दीन, मलिन, आनन्द विहीन, भावहीन ही रहेगा। स्त्रष्टा कृपालु है, वह समय समय पर ऐसे व्यक्तियों को भी भेजता रहता है जो उसे व्यक्त करते तथा भव में भाव गंगा बहाते तथा अभाव ग्रसित मनुष्यों का पथ प्रदर्शन करते तथा शान्ति प्रदान करते। प्रशंसा, निन्दा का प्रश्न नहीं। बुद्धिजीवी मनुष्य यदि अभाव की दृष्टि से संसार को देखता है तो अन्य जनों की अवस्था तो और भी शोचनीय हो जाती है।

पदार्थ अनुकूल अवस्था में सुखदायक तथा प्रतिकूल अवस्था में दु:खदायक हो जाता है। पदार्थ न सुखदाता है और न दु:ख का कारण। अवस्था बाहरी प्रकृति की और अवस्था भीतरी प्रकृति की यदि प्रत्येक वस्तु

में अभाव का ही अनुभव करती है तो बाहरी प्रकृति का क्या अपराध? बुद्धि, भ्रम उत्पन्न करने के लिए नहीं दी गयी थी फिर बुद्धि भ्रम क्यों होता है? विवेचन की शक्ति बुद्धि में है किन्तु स्वार्थ, बुद्धि के कार्य में बाधक होता है। मन की चंचलता, स्वार्थ, बुद्धिभ्रम के कारण बन जाते हैं।

स्वार्थ की सीमा नहीं। असीम स्वार्थ, मन, बुद्धि को व्याकुल कर देते हैं। अभाव का जनक स्वार्थ प्रतीत होता है। संग्रह, अति संग्रह भी अभाव की पूर्ति नहीं कर पाते। मन की नाना प्रकार की कल्पना, बुद्धि की निर्बलता तथा निर्मलता का अभाव भव में अभाव को बढ़ाता ही जाता है। भाव के अभाव में अभाव ही बढ़ते हैं।

अभाव की गणना करना कठिन है। सत्व, रज, तम की अधिकता तथा न्यूनता ने अनेक भाव फैलाये। भजन करने वाला मनुष्य भी यदि भाव में न आ सका तो भजन भी अभाव ही बढ़ाता है। अन्य जनों की चर्चा व्यर्थ। यथार्थ भजन तो शान्तिदायक होता है किन्तु धन, जन के लिए किया हुआ भजन तो अभाव में ही समा जाता है। विचित्र अभाव की चर्चा है, जिसका कहीं अन्त नहीं, अन्त है सृष्टि का किन्तु अभाव की वार्ता का अन्त कहाँ?

भाव वाले जहाँ पागल, बुद्धिहीन समझे जाते हैं वहाँ सन्तोष शान्ति की बातें तो पुस्तकों की शोभा ही बढ़ाती है। आदर्श की बातें केवल बातें ही हैं। आदर्श के अनुसार जीवन व्यतीत करने की विधि की जानकारी भी आवश्यक है। विधि का विधान यह वाक्यांश ही जहाँ प्रधान वहाँ विधि और विधान दो शब्द मात्र ही रह जाते हैं। विधान भी बदलते हैं तथा विधि भी। यह अभाव अपरिवर्तनशील ही रहता है जब तक भाव के दर्शन न हों, भाव वाले के दर्शन न हों।

मन की निम्नस्तर अवस्था मन को व्याकुल कर देती है। यह निम्नस्तर अवस्था अभाव है। भाव इस अवस्था में परिवर्तन लाता है। समुद्र के अति समीप नदी में ज्वार, भाटा देखा जाता है। भाटा की अवस्था में नदी का स्नान सुखदायक नहीं होता किन्तु ज्वार तो बहार की अवस्था है। जहाँ देखिये नदी में जल ही जल है। ऐसी ही मन की अवस्था है। भाव ज्वार की तरह सर्वत्र आनन्द ही आनन्द प्रसारित करता है। सन्निकट समुद्र है भाव का, ऐसा कहना भी उचित नहीं जान पड़ता। आनन्द सागर मनुष्य के रोम रोम में हिलोरे ले रहा है फिर भी प्राणी अभाव ही अनुभव करता है, यह दुखद अवस्था है। पाप तथा अवगुणों की चर्चा करने वाला मनुष्य यदि अभाव अनुभव न करे तो कौन करेगा? उन वक्ताओं ने, व्यक्ति के ह्रदय में केवल कर्दम ही कर्दम देखा है जो पाप और अभाव की बातें कहते तथा महात्मा और साधु कहलाते हैं। पाप की भीषण कथाओं ने मनुष्य को बेचैन ही किया है आनन्द नहीं दिया। कर्दम का स्पर्श हाथ को मैला ही बनाता है, स्वच्छ नहीं। पाप की कथाएं ही आज रंजन के साथ प्रसारित की जा रही है आनन्द तथा भाव की बातें कहाँ यह युग धर्म है या युग अधर्म जहाँ पाप और अभाव ही प्रधान विषय बने हुए है चर्चा के।

पाप और अभाव का निवारण भाव ही करता है। नदी के तल भाग में कीचड़ है तो जल भी है। जल शीतलता प्रदायक है। जो लोग कर्दम में ही शीतलता खोजते है, उनकी कथा निराली है। गुण अवगुण मिश्रित कार्य होते हैं। केवल अवगुण की चर्चा में ही काल यापन करने वाले व्यक्ति अभाव की बातें न करें तो कौन करेगा? अभाव है भाव की चर्चा का। आज भाव की बातें हैं कल व्यक्ति भावमग्न भी हो सकेगा ऐसी आशा की जा सकती है। धन की प्रचुरता, तन की सबलता मन के अभाव को दूर नहीं कर पातीं। भाव ही इस भव में अभाव की महाऔषधि है।

अभाव का प्रचार मनुष्य में हिंसा, द्वेष, क्रोध, लालच आदि मलिन भावों की वृद्धि करता है। दुःख द्वन्द्व का कारण भी अभाव की भावना है। अभारतीय विचारों ने भारत में महा अशान्ति फैला रखी है। मनुष्य का दैवी भाव दिन प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा है। कारण स्पष्ट है, मनुष्य आज अभाव का अनुभव अधिक कर रहा है। एक ओर ईश्वर, धर्म, मन्दिर की उपेक्षा दूसरी ओर भ्रष्ट आचरण की वृद्धि, अभाव अग्नि को अधिक प्रज्ज्वलित करती जा रही है। धार्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन आज उपहास्पद हो रहा है, साधु महात्माओं की पाप-पुण्य की कथाएँ तथा आधुनिक काल का विदेशी तथा स्वदेशी साहित्य दोनों ही अभाव वृद्धि के सहायक सिद्ध हो रहे हैं। वे (महात्मा तथा साधु) साधारण जनों के अवगुणों की चर्चा करते करते नहीं अघाते तथा ये (साधारण जन) उनकी निन्दा करने में। जग में शान्ति के दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं। इन वाद विवादों का अन्त होना तो संभव नहीं, किन्तु यदि ये भाव को अपनायें तो अभाव की अवस्था में परिवर्तन आ सकता है। भव में अभाव न था और न है भाव वालों के लिए। यह भाव आत्मानन्द का पर्यायवाची शब्द है।

★★★★★